माघ, वीर नि० सं०२४६६
फरवरी १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण ४
वार्षिक मूल्य ३)

वीर अवतार का लीन

बलिदान का एक दृश्य

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कनॉट सर्कस पो० बो० नं० ४८ न्यू देहली।

❀ विषय-सूची ❀

			पृष्ठ
१.	विद्यानन्द-स्मरण	... ...	२६६
२.	श्री. शुभचन्द्राचार्यका समय और ज्ञानार्णवकी एक प्राचीन प्रति [श्री० पं० नाथूराम प्रेमी	...	२७०
३.	शिकारी (कहानी)—[श्री० भगवत् जैन	...	२७७
४.	अनुरोध (कविता)—[श्री० भगवत् जैन	...	२८०
५.	आत्मिक क्रान्ति —[श्री० बा० ज्योतिप्रसाद विशारद	...	२८१
६.	सम्बोधन (कविता)—[श्री० ब्र० प्रेमचन्द	...	२८३
७.	हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और जैन दर्शन—[श्री० पं० सुमेरचन्दजी	...	२८४
८.	जीवन-साध (कविता) —[पं० भवानीदत्त शर्मा 'प्रशान्त'	...	२८५
९.	हरिभद्रसूरि—[श्री० पं० रतनलाल संघवी	...	२८६
१०	वीर शासनांक पर सम्मतियाँ	...	२९२-२९६
११	जैनसमाजके लिये अनुकरणीय आदर्श—[श्री० अगरचन्द नाहटा	...	२९३
१२	गोम्मटसार एक संग्रह ग्रन्थ है—[पं० परमानन्द जैन शास्त्री	...	२९७
१३	मानवधर्म (कविता)—[श्री० 'युगवीर'	...	३०३
१४	तत्त्वार्थाधिगम भाष्य और अकलंक—[प्रो० जगदीशचन्द एम.ए.	....	३०४
१५	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक पर सम्पादकीय विचारणा	...	३०७
१६	साहित्य-परिचय और समालोचन—[सम्पादकीय	...	३१२
१७	सामायिक विचार—[श्रीमद्राजचन्द्र	...	टाइटिल
१८	सुभाषित—[कविवर बनारसीदासजी	...	,,

अनेकान्तकी फाइल

अनेकान्तके द्वितीय वर्षकी किरणोंकी कुछ फाइलोंकी साधारण जिल्द बंधवाली गई हैं। १२वीं किरण कम हो जानेके कारण फाइलें थोड़ी ही बन्ध सकी हैं। अतः जो बन्धु पुस्तकालय या मन्दिरोंमें भेंट करना चाहें या अपने पास रखना चाहें वे २॥) रु० मनीआर्डरसे भिजवा देंगे तो उन्हें सजिल्द अनेकान्तकी फाइल भिजवाई जा सकेगी।

जो सज्जन अनेकान्तके ग्राहक हैं और कोई किरण गुम हो जानेके कारण जिल्द बन्धवानेमें असमर्थ है उन्हें १२वीं किरण छोड़कर प्रत्येक किरणके लिये चार आना और विशेषांकके लिये आठ आना भिजवाना चाहिए तभी आदेशका पालन हो सकेगा।

—व्यवस्थापक

ॐ अर्हम्

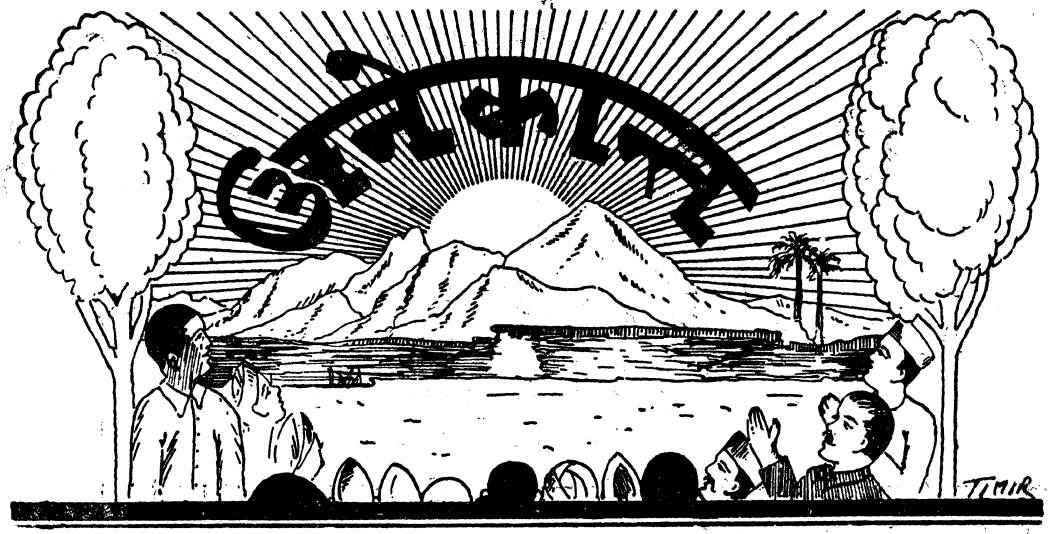

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
माघ-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९६ | किरण ४

विद्यानन्द-स्मरण

अलंचकार यस्सार्वमाप्तमीमांसितं मतम् । स्वामिविद्यादिनन्दाय नमस्तस्मै महात्मने ॥
यः प्रमाणाप्तपत्राणां परीक्षाः कृतवानुमः । विद्यानन्दमिनं तं च विद्यानन्दमहोदयम् ॥
वद्या नन्दस्वामी· विरचितवान श्लोकवार्तिकालंकारम् ।
जयति कवि-विबुध-तार्किकचूडामणिरमलगुणनिलयः ॥—शिमोगा-नगरतालुकशिलालेख नं० ४६

जिन्होंने सर्वहितकारी आप्तमीमांसित-मतको अलंकृत किया है—स्वामी समन्तभद्रके परमकल्याणरूप आप्तमीमांसा ग्रन्थको अपनी अष्टसहस्री टीकाके द्वारा सुशोभित किया है—उन महान् आत्मा स्वामी विद्यानन्द-को नमस्कार है ।

जो प्रमाणों, आप्तों तथा पत्रोंकी परीक्षाएँ करनेवाले हुए हैं—जिन्होंने प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा और पत्रपरीक्षा जैसे महत्वके ग्रन्थ लिखे हैं—उन विद्या तथा आनन्दके महान् उदयको लिये हुए अथवा (प्रकारान्तरसे) 'विद्यानन्द-महोदय' ग्रंथके रचयिता स्वामी विद्यानन्दकी हम स्तुति करते हैं—उनकी विद्याका यशोगान करते हैं ।

जिन्होंने 'श्लोकवार्तिकालंकार' नामका ग्रंथ रचा है वे कवियोंके चूडामणि, विबुधजनोंके मुकुटमणि और तार्किकोंमें प्रधान तथा निर्मल गुणोंके आश्रयस्थान श्रीविद्यानन्दस्वामी जयवन्त हैं—सदा ही अपने पाठकों-वद्वज्जनोंके हृदयमें अपने अगाध पाण्डित्यका सिक्का जमानेवाले हैं ।

ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः ।
शृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रंगति ॥ —पार्श्वनाथचरिते-वादिराजसूरिः

श्रीविद्यानन्दाचार्यके ऋजुसूत्ररूप तथा देदीप्यमानरत्नरूप अलंकारको जो सुनते भी हैं उनके भी अंगोंमें दीप्ति दौड़ जाती है, यह आश्चर्यकी बात है ! अर्थात् अलंकारों-आभूषणोंको जो मनुष्य धारण करता है उसीके अंगोंमें दीप्ति दौड़ा करती है—सुननेवालोंके अंगोंमें नहीं, परन्तु श्रीविद्यानन्दस्वामीके सत्यसूत्रमय और स्फुर-द्रत्नरूप आप्तमीमांसाऽलंकार (अष्टसहस्री) और श्लोकवार्तिकालंकार (तत्त्वार्थटीका) ऐसे अद्भुत अलंकार हैं कि उनके सुननेसे भी अंगोंमें दीप्ति दौड़ जाती है—सुननेवालोंके अंगोंमें विद्युत्तेजका-सा कुछ ऐसा संचार होने लगता है कि एकदम प्रसन्नता जाग उठती है ।

श्रीशुभचन्द्राचार्यका समय

और

ज्ञानार्णवकी एक प्राचीन प्रति

[लेखक—पं० श्रीनाथूरामजी प्रेमी, बम्बई]

पाटण (गुजरात)के खेतरवसी नामक श्वेताम्बर जैन भंडारमें (नं० १३) श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत ज्ञानार्णवकी वैशाख सुदी १० शुक्रवार संवत् १२८४ की लिखी हुई एक प्राचीन प्रति है, जिसमें १५×२ साइजके २०७ पत्र हैं। उसके अन्तमें जो लेखकोंकी प्रशस्तियाँ हैं वे अनेक दृष्टियोंसे बड़े महत्वकी हैं, इस लिए उन्हें यहाँ प्रकाशित किया जाता है—

"इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे पंडिताचार्य-श्रीशुभचन्द्रविरचिते मोक्षप्रकरणम्।

अस्यां श्रीमन्नृपुर्यां श्रीमदर्हद्देवचरणकमल-चंचरीकः सुजनजनहृदयपरमानन्दकन्दलीकन्दः श्रीमाथुरान्वयसमुद्रचन्द्रायमानो भव्यात्मा परम-श्रावकः श्रीनेमिचन्द्रो नामाभूत्। तस्याखिल-विज्ञा-नकलाकौशल-शालिनी सती पतिव्रतादिगुणगुणा-लंकार भूषित शरीरा निजमनोवृत्तिरिवाव्यभिचा-रिणी स्वर्णानाम धर्मपत्नी संजाता। अथ तयोः समासादितधर्मार्थकामफलयोः स्वकुलकुमुदवन-चन्द्रलेखा निजवंश-वैजयन्ती सर्वलक्षणालंकृतश-रीरा जाहिणि-नाम-पुत्रिका समुत्पन्ना ।छ।

ततो गोकर्ण-श्रीचंद्रौ सुतौ जातौ मनोरमौ।
गुणरत्नाकरौ भव्यौ रामलक्ष्मणसन्निभौ ॥
सा पुत्री नेमिचन्द्रस्य जिनशासनवत्सला।
विवेकविनयोपेता सम्यग्दर्शनलांछिता ॥
ज्ञात्वा संसारवैचित्र्यं फल्गुतां च नृजन्मनः
तपसे निरगाद्गेहात् शान्तचित्ता सुसंयता ॥
बान्धवैर्वार्यमाणापि प्रण(य)तैः शास्त्रलोचनैः।
मनागपि मनो यस्या न प्रेम्णा कश्मलीकृतं।
गृहीतं मुनिपादांते तया संयतिकाव्रतं।
स्वीकृतं च मनः शुद्ध्या रत्नत्रयमखंडितं ॥
तया विरक्तयात्यंतं नवे वयसि यौवने।
आरब्धं तत्तपः कर्तुं यत्सतां साध्विति स्तुतं ॥
यमव्रततपोद्योगैः स्वाध्यायध्यानसंयमैः।
कायक्लेशाद्यनुष्ठानैर्गृहीतं जन्मनः फलम् ॥
तपोभिर्दुष्करैर्नित्यं बाह्यान्तर्भेदलक्षणैः।
कषायरिपुभिः सार्धं निःशेषं शोषितं वपुः ॥
विनयाचार सम्पत्त्या संघः सर्वोप्युपासितः।
वैयावृत्योद्यमात्शश्वत्कीर्तिर्नीता दिगंतरे ॥
किमियं भारती देवी किमियं शासनदेवता।
दृष्टपूर्वैरपि प्रायः पौरैरिति वितर्क्यते ॥
तया कर्मक्षयस्यार्थं ध्यानाध्ययनशालिने।
तपः श्रुतनिधानाय तत्वज्ञाय महात्मने ॥
रागादिरिपुमल्लाय शुभचन्द्राय योगिने।
लिखाप्य पुस्तकं दत्तमिदं ज्ञानार्णवाभिधम् ॥

संवत् १२८४ वर्षे वैशाष सुदि १० शुक्रे गो-मंडले दिगम्बरराजकुल-सहस्रकीर्ति (र्ती)स्यार्थे पं० केशरिसुतवीसलेन लिखितमिति।"

भावार्थ—इस नृपुरी में अरहंत भगवान्के चरण-कमलोंका भ्रमर, सज्जनोंके हृदयको परमानन्द देनेवाला माथुरसंघरूप समुद्रको उल्लसित करनेवाला भव्यात्मा श्रीनेमिचन्द्र नामका परम श्रावक हुआ, जिसकी धर्मपत्नीका नाम स्वर्णा (सोना) था जो कि अखिल विज्ञानकलाओंमें कुशल, सती, पातिव्रत्यादि-गुणोंसे भूषित और अपनी मनोवृत्तिके ही समान अव्यभिचारिणी थी। धर्म अर्थ और कामको सेवन करनेवाले इन दोनोंके जाहिणी नामकी पुत्री हुई, जो अपने कुलरूप कुमुदवनकी चन्द्रलेखा, निजवंशकी वैजयन्ती (ध्वजा) और सर्वलक्षणोंसे शोभित थी।

इसके बाद उनके राम और लक्ष्मणके समान गोकर्ण और श्रीचन्द्र नामके दो सुन्दर, गुणी और भव्य पुत्र उत्पन्न हुए।

और फिर नेमिचन्द्रकी वह जिनशासन वत्सला, विवेक-विनयशीला और सम्यग्दर्शनवती पुत्री (जाहिणी) संसारकी विचित्रता तथा नरजन्मकी निष्फलता को जानकर तपके लिए घरसे चल दी। वह शान्तचित्त और अतिशय संयत थी। शास्त्रज्ञ बन्धुजनोंके प्रयत्न पूर्वक रोकनेपर भी उसके मनको प्रेम या मोहने ज़रा भी मैला न होने दिया।

आखिर उसने मुनियोंके चरणोंके निकट आर्यिकाके व्रत ले लिये और मनकी शुद्धिसे अखंडित रत्नत्रयको स्वीकार किया।

उस विरक्ताने नवयौवनकी उम्रमें ऐसा कठिन तप करना आरम्भ किया कि सज्जनोंने उसकी 'साधु साधु' कहकर स्तुति की।

उसने यम, व्रत और तपके उद्योगसे, स्वाध्याय ध्यान और संयमसे तथा कायक्लेशादि अनुष्ठानोंसे अपने जन्मको सफल किया।

उसने निरन्तर बाह्य और अन्तरंग दुष्कर तप तपकर कषायरिपुओंके साथ साथ अपने सारे शरीरको भी सुखा डाला।

उसने विनयाचार-सम्पत्तिसे सारे संघकी उपासना की और वैयावृत्ति करके अपनी कीर्तिको दिगन्तरोंतक पहुँचा दिया।

जिन पौरजनोंने उसे पहले देखा था वे भी इस तरहका वितर्क करने लगे कि न जाने यह साक्षात् भारती (सरस्वती) देवी है या शासनदेवता है।

उस जाहिणी आर्यिकाने कर्मोंके क्षयके लिए यह ज्ञानार्णव नामकी पुस्तक ध्यान और अध्ययनशाली, तप और शास्त्रके निधान, तत्त्वोंके ज्ञाता और रागादि-रिपुओंको पराजित करनेवाले मल्ल जैसे शुभचन्द्र योगीको लिखाकर दी।

वैशाख सुदी १० शुक्रवार वि० सं० १२८४ को गोमंडल (गोंडल-काठियावाड़) में दिगम्बर राजकुल (भट्टारक ?) सहस्रकीर्तिके लिए पं० केशरीके पुत्र वीसलने लिखी।

विवेचन—ऐसा मालूम होता है कि इस पुस्तकमें लिपि-कर्त्ताओंकी दो प्रशस्तियाँ हैं। पहली प्रशस्तिमें तो लिपिकर्त्ताका नाम और लिपि करनेका समय नहीं दिया है, सिर्फ लिपि करानेवाली जाहिणीका परिचय दिया है।

हमारी समझमें आर्यिका जाहिणीने जिस लेखकसे उक्त प्रति लिखाई होगी, उसका नाम और समय भी अन्तमें अवश्य दिया होगा; परन्तु दूसरे लेखकने उक्त पहली प्रतिका वह अंश अनावश्यक समझकर छोड़ दिया होगा और अपना नाम और समय अन्तमें लिख दिया होगा। इस दूसरी प्रतिके लेखक पं०केशरीके पुत्र वीसल हैं और उन्होंने गोंडलमें श्रीसहस्रकीर्तिके लिए

इसे लिखा था जब कि पहली प्रति नूपुरीमें श्रीशुभचन्द्र योगीके लिए लिखाकर दी गई थी।

दूसरी प्रति वि० सं० १२८४ की लिखी हुई है, तब पहली प्रति अवश्य ही उससे पचीस-तीस वर्ष पहले लिखी गई होगी। नूपुरी स्थान कहाँ है, ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। संभव है यह ग्वालियर राज्यका नरवर हो। नरपुर और नूपुर (स्त्रीलिंग नूपुरी) एक हो सकते हैं। नरपुरसे नरउर और फिर नरवर रूप सहज ही बन जाते हैं।

गोमंडल और गोंडल एक ही हैं। गोमंडलका ही अपभ्रंशरूप गोंडल है। अभी कुछ समय पहले डा० हँसमुखलाल साँकलियाने गोंडल राज्यके ढांक नामक स्थानकी प्राचीन जैन गुफाओंके विषयमें एक लेख प्रकाशित किया था, जहाँसे कि बहुतसी दिगम्बर प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। यह स्थान जूनागढ़से ३० मील उत्तर-पश्चिमकी तरफ गोंडल राज्यके अन्तर्गत है। चूंकि इस समय गोंडल और उसके आसपास दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुयायियोंका प्रायः अभाव है, इसलिए डा० साहबने अनुमान किया था कि उक्त प्रतिमायें उस समयकी होंगी जब दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद हुए अधिक समय न बीता था और दोनोंमें आज-कलके समान वैमनस्य न था। उक्त लेख जैनप्रकाश (भाग ४ अंक १-२) में प्रकाशित हुआ था और उसपर सम्पादक महाशयने अपना यह नोट दिया था कि पहले श्वेताम्बर भी निर्वस्त्र या दिगम्बर मूर्तियोंकी पूजा करते थे।

यह बात सही है कि पहले श्वेताम्बर भाई भी निर्वस्त्र मूर्तियोंकी पूजा करते थे, लंगोट आदि चिह्नों-वाली प्रतिमायें प्रतिष्ठित करनेकी पद्धति बहुत पीछे शुरू हुई है और यह भी संभव है कि ढांककी गुफाओं की मूर्तियाँ मथुराके कंकाली टीलेकी मूर्तियोंके समान बहुत प्राचीन कालकी हों; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय गोंडलराज्यमें दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुयायी नहीं हैं, इसलिए पहले भी न रहे होंगे। ज्ञानार्णवकी वीसलकी लिखी हुई उक्त प्रतिसे मालूम होता है कि विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिमें गोंडलमें दिगम्बर-सम्प्रदाय था और उसके सहस्रकीर्ति नामक साधुके लिए वह लिखी गई थी। सहस्रकीर्ति दिगम्बर सम्प्रदायके भट्टारक जान पड़ते हैं, और इसलिए वहाँ उनके अनुयायी भी काफी रहे होंगे।

उनका दिगम्बर राजकुल विशेषण कुछ अद्भुत सा है। हमारी समझमें राजकुल 'राउल' का संस्कृत रूप है। राजकुलके गृहस्थों और पदवीधारियोंके समान यह विशेषण उस समय वहाँपर भट्टारकोंके लिए भी रूढ होगया होगा, ऐसा जान पड़ता है।

पहली प्रशस्तिमें एक विलक्षण बात यह है कि आर्यिका जाहिणीने वह प्रति ध्यानाध्ययनशाली, तपः-श्रुतनिधान, तत्त्वज्ञ, रागादिरिपुमल्ल और योगी शुभचन्द्रको भेंट की है और ज्ञानार्णव या योगप्रदीपके कर्त्ता शुभचन्द्राचार्य ही माने जाते हैं। उक्त विशेषण भी उनके लिए सर्वथा उपयुक्त मालूम होते हैं। ऐसी हालतमें प्रश्न होता है कि क्या स्वयं ग्रन्थकर्त्ताको ही उनका ग्रंथ लिखकर भेंट किया गया है? असंभव न होनेपर भी यह बात कुछ विचित्रसी मालूम होती है। यदि ऐसा होता तो प्रशस्तिमें आर्यिकाकी ओरसे इस बातका भी संकेत किया जा सकता था कि शुभचन्द्र योगीको उन्हींकी रचना लिखकर भेंट की जाती है। इसलिए यही अनुमान करना पड़ता है कि ग्रन्थकर्त्ताके अतिरिक्त उन्हींके नामके कोई दूसरे शुभचन्द्र योगी थे जिन्हें इस प्रतिका दान किया गया है। और अक्सर आचार्य-परम्परामें देखा गया है कि जो नाम एक आ-

चार्यका होता था वही उसके प्रशिष्यकाभी रख दिया जाता था, जिस तरह धर्मपरीक्षाके कर्त्ता अमितगतिके परदादा गुरुका भी नाम अमितगति था। बहुत संभव है कि जिन शुभचन्द्र योगीको उक्त प्रति दान की गई है, ग्रन्थकर्त्ता उनके ही प्रगुरु (दादा गुरु) या प्रगुरुके भी गुरु हों।

अभी तक ज्ञानार्णवका रचनाकाल निर्णीत नहीं हुआ है। उसमें आचार्य जिनसेनका स्मरण किया गया है, और जिनसेनने जयधवलटीकाका शेष भाग शकसंवत् ७५९ (वि० सं० ८९४) में समाप्त किया था। इससे यह निश्चित होता है कि विक्रमकी नवीं शताब्दिके बाद किसी समय ज्ञानार्णवकी रचना हुई होगी। कितने बाद हुई होगी यह जाननेके लिए हमने ज्ञानार्णवके उन श्लोकोंकी जाँच की, जिन्हें ग्रन्थाकर्त्ताने अन्य ग्रंथोंसे 'उक्तं च ग्रंथान्तरे' कहकर उद्धृत किया है। मुद्रित ज्ञानार्णवके पृष्ठ ७५ (गुणदोषविचार)में नीचे लिखे तीन श्लोक हैं—

ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥१॥
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।
ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ॥२॥
हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हताचाज्ञानिनः क्रिया।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पंगुकः ॥३॥

यही तीनों श्लोक यशस्तिलकचम्पूके छठे आश्वास (पृ०२७१) में ज्योंके त्यों इसी क्रमसे दिये हुए हैं। इनमेंसे पहले दो तो स्वयं यशस्तिलककर्त्ता सोमदेवसूरिके हैं और तीसरा यशस्तिलकमें 'उक्तं च' कहकर किसी अन्य ग्रंथसे उद्धृत किया गया है। अकलंकदेवके राजवार्तिकमें भी यह श्लोक थोड़ेसे साधारण पाठभेदके साथ 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत ही पाया जाता है, और इससे यह श्लोक किसी प्राचीन ग्रन्थका जान पड़ता है। ज्ञानार्णवके कर्त्ताके लिए ये तीनों ही अन्यकृत थे, इसलिए उन्होंने तीनोंको 'उक्तंच ग्रन्थान्तरे' कह कर उद्धृत कर दिया। यशस्तिलककी रचना विक्रम् संवत् १०१६ में हुई है, इसलिये ज्ञानार्णवका समय इसके बादका मानना चाहिए।

ज्ञानार्णवके पृ० १७७ में एक श्लोक पुरुषार्थसिद्ध्युपायका भी ('मिथ्यात्ववेदरागा' आदि) उद्धृत किया गया है, परन्तु उसके कर्त्ता अमृतचन्द्राचार्यका समय निश्चित् न होनेके कारण वह एक तरहसे निरुपयोगी है।

पाटणकी उक्त प्रति वि० सं० १२८४ की लिखी हुई है और आर्यिका जाहिणीवाली प्रति यदि उससे अधिक नहीं पचीस-तीस वर्ष पहलेकी भी समझ ली जाय* और ग्रन्थ उस प्रतिसे केवल तीस चालीस वर्ष पहले ही रचा गया हो, तो विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके अन्तिमपाद तक ज्ञानार्णवकी रचनाका समय जा पहुँचता है। यद्यपि हमारा खयाल है कि शुभचन्द्र इससे भी पहले हुए होंगे।

आचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्र और ज्ञानार्णवमें बहुत अधिक समानता है। योगशास्त्रके पांचवें प्रकाशसे लेकर ग्यारहवें प्रकाश तकका प्राणायाम और ध्यानवाला भाग ज्ञानार्णवके उन्तीसवेंसे लेकर बयालीसवें तकके सर्गोंकी एक तरह नक़ल ही मालूम होती है। छन्द-परिवर्तनके कारण जो थोड़े बहुत शब्द बदलने पड़े हैं उनके सिवाय सम्पूर्ण विषय दोनों ग्रंथोंमें एकसा है। इसी तरह चौथे प्रकाशमें कषायजयका उपाय 'इन्द्रियजय', इन्द्रिजयका उपाय 'मनः शुद्धि', उसका

*पहली प्रति नरवर (मालवा) में लिखी गई थी। और दूसरी गोंडल (काठियावाड़) में मालवे से गोंडल उस समयकी दृष्टिसे काफी दूर है।

उपाय रागद्वेषका जय, उसका उपाय समत्व और समत्व की प्राप्ति ही ध्यानकी मुख्य योग्यता है, ऐसा जो कोटिक्रम दिया है वह भी ज्ञानार्णवके २१से २७ तकके सर्गोंमें शब्दशः और अर्थशः एक-जैसा है । अनित्यादि भावनाओंका और अहिंसादि महाव्रतोंका वर्णन भी कमसे कम शैलीकी दृष्टिसे समान है। शब्द-साम्य भी जगह जगह दिखाई देता है। कुछ नमूने देखिए—

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ।
—ज्ञानार्णव पृ० १३४

रम्यमापातमात्रे यत्परिणामेऽतिदारुणम् ।
किम्पाकफल-संकाशं तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥७८॥
—योगशास्त्र द्वि० प्र०

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ॥३
स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिः पथ इवाभलाः ।
समीर इव निःसङ्गाः निर्ममत्वं समाश्रिताः ॥१५
—ज्ञानार्णव पृ० ८४–८६

विरतः कामभोगेभ्यःस्वशरीरेऽपि निःस्पृहः ।
संवेगहृदर्निमग्नः सर्वत्र समता श्रयन् ॥५
सुमेरुरिव निष्कम्पः शशीवानन्दायकः ।
समीर इव निस्संगः सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ॥१६
—योगशास्त्र सप्तम् प्र०

आचार्य हेमचन्द्रका स्वर्गवास वि० सं० १२२९ में हुआ है। विविध विषयों पर उन्होंने सैंकड़ों ग्रन्थोंकी रचना की थी। योगशास्त्र महाराजा कुमारपालके कहनेसे रचा गया था और उनका कुमारपालसे अधिक निकटका परिचय वि० सं० १२०७ के बाद हुआ था। अतएव योगशास्त्र विक्रम संवत् १२०७ से लेकर १२२९ तकके बीचके किसी समयमें रचा गया है।

यह तो निश्चित है कि शुभचन्द्र और हेमचन्द्र दो में से किसी एकके सामने दूसरेका ग्रन्थ मौजूद था। परन्तु जबतक शुभचन्द्रका ठीक समय निश्चित् नहीं हो जाता, तब तक ज़ोर देकर यह नहीं कहा जा सकता कि किसने किसका अनुकरण और अनुवाद किया है।

'उक्तं च' श्लोकोंकी खोज करते हुए हमें मुद्रित ज्ञानार्णवके २८६ पृ० (सर्ग २९) में नीचे लिखे दो श्लोक इस प्रकार मिले—

उक्तं च श्लोकद्वयं

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः ।
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुंभकः ॥
यत्कोष्ठादतियत्नेन नासा ब्रह्मपुरातनैः ।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥

और यही श्लोक हेमचन्द्रके योगशास्त्रके पांचवें प्रकाशमें नं० ६ और ७ पर मौजूद हैं। सिर्फ इतना अन्तर है कि योगशास्त्रमें 'नाभिमध्ये' की जगह 'नाभिपद्मे' और 'पुरातनैः' की 'पुराननैः' पाठ है।

इससे यह अनुमान होता है कि ज्ञानार्णव योगशास्त्रके बादकी रचना है और उसके कर्त्ता ने इन श्लोकोंको योगशास्त्र परसे ही उठाया है। परन्तु हमें इस पर सहसा विश्वास न हुआ और हमने ज्ञानार्णवकी हस्तलिखित प्रतियोंकी खोज की।

बम्बईके तेरहपन्थी जैन मन्दिरके भंडारमें ज्ञानार्णवकी एक १७×७ साईजकी हस्तलिखित प्राचीन प्रति है, जिसके प्रारम्भके ३४ पत्र (स्त्रीस्वरूपप्रतिपादक प्रकरणके ४६वें पद्य तक) तो संस्कृत टीकासहित हैं और आगेके पत्र बिना टीकाके हैं। परन्तु उनके नीचे टीकाके लिए जगह छोड़ी हुई है। टीकाकर्त्ता कौन हैं, सो मालूम नहीं होता। वे मंगलाचरण आदि कुछ न करके इस तरह टीका शुरु कर देते हैं—

ओं नमः सिद्धेभ्यः। अहं श्री शुभचन्द्राचार्यः परमात्मानमव्ययं नौमि नमामि किं भूतं परमात्मानं अजं जन्मरहितं पुनः किं भूतं परमात्मानं अव्ययं विनाशरहितं। पुनः किं भूतं परमात्मानं निष्ठितार्थं निष्पन्नार्थं पुनः किं भूतं परमात्मानं ज्ञानलक्ष्मीधनाश्लेषप्रभवानन्दनन्दितं। ज्ञानमेव लक्ष्मीस्तस्या योऽसौ धनाश्लेषं निविड़ाश्लेषस्तस्मात् प्रभवः उत्पन्नो योऽसौ आनन्दस्तेन नन्दितम्।"

इस प्रतिके शुरूके पत्रोंके ऊपरका हिस्सा कुछ जल-सा गया है और कहीं कहींके कुछ अंश झड़ गये हैं। प्रारंभके पत्रकी पीठपर कागज चिपकाकर बड़ी सावधानीसे मरम्मत की गई है। पूरी प्रति एक ही लेखककी लिखी हुई मालूम होती है। अन्तमें लिपिकर्त्ताका नाम तिथि-संवत् आदि कुछ भी नहीं है, फिर भी हमारे अनुमानसे वह डेढ़-दो सौ वर्षसे इधरकी लिखी हुई नहीं होगी।

इस प्रतिमें हमने देखा कि प्राणायाम-सम्बन्धी वे दो 'उक्तंच' पद्य हैं ही नहीं जो छपी हुई प्रतिमें दिये हैं और जो आचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रके हैं। तब ये छपी प्रतिमें कहाँसे आये?

स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवालने पं० जयचन्द्र जीकी भाषा वचनिकाको ही खड़ी बोलीमें परिवर्तित करके ज्ञानार्णव छपाया था। हमने पं० जयचन्द्रजीकी वचनिका वाली प्रति तेरहपन्थी मन्दिरके भंडारसे निकलवाकर देखी तो मालूम हुआ कि उन्होंने इन श्लोकोंको उद्धृत करते हुए लिखा है कि—**"इहाँ उक्तं च दोय श्लोक हैं—"**

पं० जयचन्द्रजीने अपनी उक्त वचनिका माघ सुदी पंचमी भृगुवार संवत् १८०८ को समाप्त की थी। या तो इन श्लोकोंको प्रकरणोपयोगी समझ कर स्वयं पं० जयचन्द्रजीने ही योगशास्त्र परसे उक्तं च रूपमें उठा लिया होगा या फिर उनके पास जो मूल प्रति रही होगी उसमें ही किसीने उद्धृत कर लिया होगा। परन्तु मूलकी सभी प्रतियोंमें ये श्लोक न होंगे। निदान दो सौ वर्षसे पुरानी प्रतियोंमें तो नहीं ही होंगे। पाठकोंको चाहिए कि वे प्राचीन प्रतियोंको इसके लिए देखें।

लिपिकर्त्ताओंकी कृपासे 'उक्तंच' पद्योंके विषयमें इस तरहकी गड़बड़ अक्सर हुआ करती है और यह गड़बड़ समय-निर्णय करते समय बड़ी झंझटें खड़ी कर दिया करती है।

ज्ञानार्णवकी छपी हुई प्रतिको ही देखिए। इसके पृष्ठ ४३१ (प्रकरण ४२) के **'शुचिगुणयोगाद्'** आदि पद्यको 'उक्तं च' नहीं लिखा है परन्तु तेरहपन्थी मंदिर की उक्त संस्कृत टीका वाली प्रतिमें यह 'उक्तं च' है। पं० जयचंद्रजीकी वचनिकामें भी इसे 'उक्तं च आर्या' करके लिखा है, परन्तु छपाने वालोंने 'उक्तं च' छोड़ दिया है! इसी तरह अड़तीसवें प्रकरणमें संस्कृत टीका वाली प्रतिमें और वचनिकामें भी **'शंखेन्दुकुन्दधवला ध्यानादेवाख्यो विधानेन'** आदि पद्य 'उक्तं च' करके दिया है परन्तु छपी हुई प्रतिमें यह मूलमें ही शामिल कर लिया गया है।

'ध्येयं स्याद्वीतरागस्य' आदि पद्य छपी प्रतिके ४०७ पृष्ठमें 'उक्तं च' है परन्तु पूर्वोक्त सटीक प्रतिमें इसे 'उक्तं च' न लिखकर इसके आगेके **'वीतरागो भवेद्योगी'** पद्यको 'उक्तं च' लिखा है। और छपीमें तथा वचनिकामें भी, दोनों ही 'उक्तं च' हैं।

'उक्तं च' पद्योंके सम्बन्धमें छपी और सटीक तथा वचनिकावाली प्रतियोंमें इसी तरह और भी कई जगह फ़र्क है, जो स्थानाभावसे नहीं बतलाया जा सका। अभिप्राय यह है कि ज्ञानार्णवकी छपी प्रतिमें हेमचन्द्र

के योगशास्त्रके उक्त दो पद्योंके रहनेसे यह सिद्ध नहीं होगा कि शुभचन्द्राचार्यने स्वयं ही उन्हें उद्धृत किया है और इस कारण वे हेमचन्द्रके पीछेके हैं। इसके लिए कुछ और पुष्ट प्रमाण चाहिए।

पाटणके भंडारकी उक्त प्राचीन प्रति तो बहुत कुछ इसी ओर संकेत करती है कि ज्ञानार्णव योगशास्त्रसे पीछेका नहीं है।

नोट--अबसे कोई बत्तीस वर्ष पहले (जुलाई सन् १६०७) मैंने ज्ञानार्णवकी भूमिकामें 'शुभचन्द्राचार्यका समयनिर्णय' लिखा था और उस समयकी श्रद्धाके अनुसार विश्वभूषण भट्टारकके 'भक्तामरचरित' को प्रमाणभूत मानकर धाराधीशभोज, कालीदास, वररुचि, धनंजय, मानतुंग, भर्तृहरि आदि भिन्न भिन्न समयवर्त्ती विद्वानोंको समकालीन बतलाया था। परन्तु समय बीतने पर वह श्रद्धा नहीं रही और पिछले भट्टारकों द्वारा निर्मित अधिकाँश कथासाहित्यकी ऐतिहासिकता पर सन्देह होने लगा। तब उक्त भूमिका लिखनेके कोई आठ नौ वर्ष बाद दिगम्बरजैनके विशेषाङ्कमें (श्रावण संवत् १६७३) 'शुभचन्द्राचार्य' शीर्षक लेख लिखकर मैंने पूर्वोक्त बातोंका प्रतिवाद कर दिया, परन्तु ज्ञानार्णवकी उक्त भूमिका अब भी ज्योंकी त्यों पाठकोंके हाथोंमें जाती है। मुझे दुःख है कि प्रकाशकोंसे निवेदन कर देने पर भी वह निकाली नहीं गई और इस तीसरी आवृत्तिमें भी बदस्तूर क़ायम है। इतिहासज्ञोंके आगे मुझे लज्जित होना पडता है, इसका उन्हें खयाल नहीं। बंगला मासिक पत्रके एक लेखक श्रीहरिहर भट्टाचार्यने तो ज्ञानार्णवकी उक्त भूमिकाको 'उन्मत्तप्रलाप' बतलाया था। विद्वान् पाठकोंसे निवेदन है कि 'भक्तामरचरित' की कथाका खयाल न करके ही वे श्रीशुभचन्द्राचार्यका ठीक समय निर्णय करनेका प्रयत्न करें।

बम्बई ता० १४-१-१६४०

सम्पादकीय नोट—

लेखकमहोदयके उक्त नोट परसे मुझे रायचन्द्रशास्त्रमालाके संचालकोंकी इस मनोवृत्तिको मालूम करके बड़ा खेद हुआ कि उन्होंने भूमिका-लेखकके स्वयं अपनी पूर्वलिखित भूमिका को सदोष तथा त्रुटिपूर्ण बतलाने और उसे निकाल देने अथवा संशोधित कर देनेकी प्रेरणा करने पर भी वह अबतक निकाली या संशोधित नहींकी गई है! यह बड़े ही विचित्र प्रकारका मोह तथा सत्यके सामने आँखें बन्द करने-जैसा प्रयत्न है! और कदापि प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। आशा है कि ग्रंथमालाके संचालकजी भविष्यमें ऐसी बातोंकी ओर पूरा ध्यान रखेंगे और ग्रंथके चतुर्थ संस्करणमें लेखक महोदयकी इच्छानुसार उक्त भूमिकाको निकाल देने अथवा संशोधित कर देनेका दृढ़ संकल्प करेंगे। साथ ही, तीसरे संस्करणकी जो प्रतियाँ अवशिष्ट हैं उनमें लेखकजीके परामर्शानुसार संशोधनकी कोई सूचना ज़रूर लगा देंगे।

ज्ञानार्णव ग्रंथकी प्राचीन प्रतियोंके खोजनेकी बड़ी ज़रूरत है। जहाँ जहाँके भण्डारोंमें ऐसी प्राचीन प्रतियाँ मौजूद हों, विद्वानोंको चाहिये कि वे उन्हें मालूम करके उनके विषयकी शीघ्र सूचना देनेकी कृपा करें, जिससे उन परसे जाँचका समुचित कार्य किया जा सके। सूचनाके साथमें, ग्रंथप्रतिके लेखनका समय यदि कुछ दिया हुआ हो तो वह भी लिखना चाहिये और ग्रंथकी स्थितिको भी प्रकट करना चाहिये कि वह किस हालतमें है।

शिकारी

[ले०—श्री 'भगवत्' जैन]

कविकी कल्पनामें जब बाँध लग जाता है । मिनटों सोचने पर भी क़लम जब आगे नहीं बढ़ती, तब मनमें एक खीज पैदा हो उठती है । ठीक वैसी ही खीजकी कटुता उस शिकारीको भी विकल करती है, जो थकावटसे चूर, प्याससे मजबूर और अपने निवाससे दूर—जंगलों-झाड़ियोंमें शिकारके पीछे या शिकारकी तलाशमें दौड़ता—हाँपता घूमता है, पर शिकार हाथ नहीं लगती !···

राजपूत-नरेशका मन खीज रहा है ! रह-रह कर मनमें आ रही है—'घर लौट चलें ।'

लेकिन·····?

'क्या खाली हाथ ? अभी सन्ध्या होनेमें काफ़ी देर है ! सम्भव है, कुछ हाथ लगे ।'···

राज-पुत्रने घोड़ा बढ़ाया। हृदयमें आशाने भी दौड़ लगाना शुरू किया ।···हवाका एक झोंका आया, घोड़ा घने पेड़की छाँहसे गुज़र रहा था, कितनी ठंडी हवा लगी कि राज-पुत्रका प्याससे मलिन-मुख उद्दीप्त हो उठा ! किन्तु वह रुके नहीं, 'ठहरना' उनकी खीजका साथी था,और उद्देश्यका शत्रु !···

'इन झाड़ियोंके उस पार मैदान होगा, साफ़-सुथरा चटकीला-स्थान ! वहाँ और कुछ नहीं, तो हिरन तो होंगे ही ! ज़रूर होंगे—अक्सर ऐसा होता है । खाली हाथ लौटनेसे जो मिले वही ठीक ।'

शिकारीका अनुमान—शिकारके सम्बन्धमें—प्रायः सही बैठता है । रोजका अभ्यास, पुराना अनुभव ! ग़लत कैसे बैठे ?···

शिकारी आगे बढ़ा । जैसे ही झाड़ियोंके बीच में पहुँचा कि दीखा वही दृश्य—जिसे अनुमानने पहले ही देख रखा था ! ···लम्बे-चौड़े मैदानके एक कोनेमें हिरण-दम्पत्ति मौजमें ललक रहे हैं, प्रणय—स्वर्गीय-सरिताकी भाँति सवेग प्रवाहित हो रहा है !···

'सन्ध्याकी सुनहरी-धूपमें कितने अच्छे लग रहे हैं—वह ? कैसा मुक्त-जीवन है—उनका ? साफ़-सुथरी ज़मीन पर, मुक्ताकाशके नीचे, सभ्यताके बन्धनोंसे रहित, एकान्त आँगनमें—कैसा प्रेम-प्रमोद रच रहे हैं ? गुप्त-मंत्रणा कर रहे हैं—जानें ? कैसी लुभावक, कैसी उत्तेजक प्रेम-लीला है यह ?'···

शिकारी कुछ देर खड़ा, सोचता-विचारता रहा—यही सब ! पाठ भूले, विद्यार्थीकी तरह ! या चौकड़ी भूले, हिरणकी भाँति ! फिर—सहसा चेतना लौटी, परिस्थितिका ज्ञान हुआ—रात हुई जा रही है ! सवेरेसे अबतक एक भी शिकार हाथ नहीं चढ़ी ! जाने किसका मुँह देखकर आया गया

है आज !

इसके बाद ही, षोड़षी-नारीकी भू बंकके भांति, कमानको बनाया गया, फिर सधे हुए हाथोंने बाण का निशाना साधा ! और दूसरे ही पल—लक्ष्य-वेध !···बाण हिरणीके पेटमें होकर आर-पार !

शिकारीने जाकर देखा—ज़मीन खूनसे रंग रही है ! विवश-नेत्रोंसे हिरणी अपने प्रेमी, अपने सब-कुछ, अपने स्वामीकी ओर देख रही है ! उस 'देखने' में जैसे सारे संसारकी दीनता भरदी हो !···

आँतें बाहर निकली आ रही हैं, जीभ—हाँ, सूखी-सी जीभ—मुँहके बाहर, दाँतोंकी क़ैदके बाहर हो रही है ! बार-बार भागनेकी बेकार कोशिश करती है, और गिर-गिर जाती है ! कितनी द्रावक, कितनी दयनीय ?

मगर शिकारीके लिए हिरणीका बध—खुशी थी, दिन-भरके परिश्रमका पुरस्कार था—बहुत मामूली, बहुत छोटा-सा ! उसकी आँखोंमें एक चमक-सी आगई ! सफल मनोरथ होने पर आती है—वैसी ! कूद कर घोड़ेसे उतरा, बग़ैर ग्लानिके उसके खूनसे, लाल-लाल, कालेरुख गाढ़े खूनसे, सने शरीरको उठाया ! और क्षत्रियत्वकी ताक़त लगाकर पेटमें घुसे हुए बाणको खींच निकाला !

ओफ !!!

हिरणीके विह्वल-नेत्रोंने एक बार चारों ओर को देखा ! क्या देखा ? क्या देखना चाहती थी ? —इसे कौन जाने ? पर दीखा उसे अपना यम, साकार-काल—क्षत्रिय-पुत्र ! ···कुछ घबराई, एक बार तड़पी, पैर भी पीटे ! फिर एकदम शान्त ! आँखें मुँद गईं--जैसे, उसे जो दीखा, वह इष्ट नहीं था, उसे देखनेकी क़तई इच्छा उसके मनमें नहीं थी, भावना-विरुद्ध दृश्यकी कठोरताने उसे आँखें बन्द करनेको विवश किया हो !···एक गहरी सांसके साथ सब समाप्त, जीवन-लीलाका अन्त !

शिकारीका मन—तितलीके पंखोंकी तरह सुन्दर, चारेको चोंचमें दबाए, नीड़को लौटते पंछी की भांति तीव्र-गतिसे उड़ रहा है ! खूनमें तेज़ी है, शरीरमें नव-जीवन-सा प्रवेश हुआ लगता है। शायद हिरणीका जीवन भी इसीमें आ मिला है। यों ही, अलक्षित भावसे—जो मुँह पर आया वही —गुन गुनाते हुए शिकारी हिरणीके 'शव' को घोड़े पर लादनेके लिए उठाने लगा, कि सामने हिरण !!!

'अरे, यह तबसे यहीं खड़ा है ?'—विस्मयके साथ शिकारीके मुँहसे निकल गया ! और वह एकटक हिरणके मुँहकी ओर देखने लगा !

प्रकृतिके लगाये हुए काजलसे अलंकृत आँखें, वेदनाके पानीसे भीग रही हैं। जिन आँखोंकी उपमा प्रकृतिके पुजारी, भावुक कवि बड़े गौरवके साथ, सौन्दर्य-विभूतियोंको दिया करते हैं, वही आँखें शोकके अथाह-गर्तमें डूबी जा रही हैं ! जैसे उन आँखोंकी रोशनी मर चुकी हो, बुझ चुकी हो, राख बन चुकी हो !!

शिकारीका शरीर ढीला पड़ने लगा ! मनमें एक आँधी-सी उठने लगी ! आँखोंमें जलन-सी महसूस होने लगी ! हाथ निर्जीव-से, शरीर सुन्न-सा और मुँह सूखा-सूखा-सा मालुम देने लगा !!

वह टूटे-पेड़की तरह खड़ा रह गया, खण्ड-हरकी तरह स्तब्ध ! श्मशानकी तरह वीभत्स !···

विचारोंका यातायात !—

'मूर्ख, हिरण ! नहीं जानता कि जिसने हिरणीका प्राणान्त किया है, वह इसे कब छोड़ेगा ? फिर भी भागता नहीं, डरता नहीं ! प्रतिहिंसा जैसी घातकता उसके मनमें टकरा रही है ! प्रेमकी उत्ताल-तरंगें, प्राणोंके मोहको भुलाए दे रहीं हैं ! ओहोह:—प्रेम ! तूने इस जंगली जीवको भी अपने क़ाबूमें कर रखा है ! वह प्रेमकी समाधिमें लीन होकर अपने प्राणोंकी आहुति देते भी नहीं भय-भीत होता !'

शिकारी देख रहा है—वियोगी-हिरण अपनी प्रणयकी दुनियाको, अपनी दुलारी हिरणीको, एकटक देख रहा है ! समझ नहीं पा रहा कि उसकी हिरणी मर चुकी है, उसकी दुनिया उजड़ चुकी है ! वह इतना ही जानता है कि इसे कुछ हो गया है ! वैसा हो गया है, जैसा अबतक कभी नहीं हुआ सर्प-विष-संहारक वायगीकी तरह वह हिरणीके क्षत-विक्षत-शरीरके समीप—कुछ अटल-सा, कुछ विह्वल-सा कुछ ध्यानस्थ सा बैठा आँसू बहा रहा है ! जैसे प्रेम-मंदिरमें, रूठी हुई प्रेमकी देवीको, प्रेम-पुजारी मना रहा हो !···

शिकारीका मन भर आया। उसे ऐसा लगा जैसे उसके हृदय-कंजको किसीने भीतर हाथ डाल कर मरोड़ दिया हो, उसके मुँह पर जैसे अमावस्याकी कालिमा बिखरादी।

मानव-मन !!!

वह सोचने लगा—'कितना अगाध-स्नेह है इसे ? कपट-हीन, बनावट-रहित जैसे राकाकी चाँदनी ! वह ज्ञानवान् नहीं है ! अपनेको सभ्य समझनेका दावा भी वह नहीं करता। लेकिन—प्रेमकी साधनामें कितना अनुराग रखता है—वह अपनी पत्नीके प्रति कितना महान्-हृदय रखता है, कितना आदर्श है वह !'

शिकारीकी आँखोंमें करुणा-जल छलछला आया ! हिरणीकी मृतक-देह अब उसे अपनी भूल की तरह दिखाई देनेलगी, डरने लगा वह—अब !

काश ! वह अब किसी तरह उसे जीवित कर सकता !···

तृणोंमें अमृतका स्वाद लेने वाले वह दोनों मूक-प्रणयी, अपनी निर्धन, साधन-शून्य, उजड़ी सी दुनियाँमें प्रेमके बल पर स्वर्गका स्थापन कर रहे थे ! आह ! उसे भी मैं न देख सका ! मुझ-सा अधम और कौन होगा ? कितना भयंकर अपराध किया है—मैंने !···जिनके पास प्राणोंके सिवा और कुछ नहीं था ! जो दरिद्रताकी सीमा थे। उनका वह छोटा-सा धन, थोड़ी-सी इच्छा, और सीमित-सा सौख्य भी मैंने छीन लिया ! उफ़् ! यह घोर-पाप !!!'

कौन-सी लेखनी ऐसी है, जो हिरणकी मर्मान्तक पीड़ाको ठीक ठीक चित्रण कर सके ?··· उसके भीतर शिकारीकी सहानुभूति जैसे घुसती जा रही हो ! उसकी विकलता प्रतिक्षण बढ़ती जा रही है ! वह रो रहा है, उसकी आँखें रोरही हैं, उसका हृदय रो रहा है !···

'यह क्या किया मैंने ? एक निरपराध सुखमय, दाम्पत्तिक-जीवनमें आग लगा दी ! मैंने नहीं समझा कि दूसरेके प्राण भी अपने-से ही प्राण हैं, उसे भी दुख-सुखका अनुभव होता है ! वह भी अपना-सा ही हृदय रखता है !···ओफ़ !—

स्वार्थी-वि व ! अपने अपने स्वार्थमें मनुष्य

अन्धा हो रहा है ! कोई किसीकी पर्वाह नहीं करता !'

❀ ❀ ❀

इसके बाद क्या हुआ ?—

इसका मुझे पता नहीं ! न 'कहानी' का उससे गहरा सम्बन्ध ही है ! हाँ, यह मैं जानता हूँ, और बतलाना भी वही शेष है, कि राजपूत नरेश, अब दुनियाँकी नज़रमें 'राजा' नहीं है ! लोग उसे संसार-विरक्त-साधु कहते हैं ! वह अब बनों-बीहड़ोंमें रहता है ! और वासना-शून्य-हृदयमें एक पवित्र, पुनीत, आदर्श भावना हिलोरें लिया करती है !

और.....?

हाँ, वह शिकारी अब भी है । वैसी ही साधना, वैसा ही परिश्रम, वैसी ही तन्मयताको अब भी काममें लाता रहता है ! लेकिन फ़र्क इतना है—अब वह पशु पंछियोंका शिकार नहीं करता, उन पशु-प्रवृत्तियोंका शिकार किया करता है जिन्होंने उसे शिकारी बनाया !

अनुरोध

[श्री 'भगवत्' जैन]

दिखादे पथ-भ्रष्टोंको पंथ, जी रहे आज मृतककी भाँति,
बनादे मूकोंको वाचाल ! सिखादे मरना जीने-सा !
होश उनको भी आजाए, न बाक़ी रहे देशको भीरु—
हो रहे जो दिन-दिन बेहाल !! कहलवानेका अन्देशा !!

बने जीवन जागृतिकी ज्योति,
मौत को समझ उठें खिलवाड़ !
हिमालय बने हमारा भाल,
और मुख ज्वालामुखी पहाड़ !!

हृदयमें बहे वेगके साथ, दानवी प्रकृति दूर भागे,
प्रेम-गंगाकी मृदु-धारा ! प्राकृतिकताको अपनाएँ !
विश्व-भरमें फैले भ्रातृत्व, अरे ! भरदे ऐसी सामर्थ्य,
शत्रु भी लगे प्राण-प्यारा ! रसातल-पथसे हट जाएँ !!

न समझो हँसनेमें कुछ तथ्य,
वेदना रहती रोने में !
बड़े गौरवकी समझो बात,
दुखीके साथी होने में !!

दूसरेका दुख अपना दुःख,— बनादे आँखों-सा कोमल,
माननेमें सुखका बिस्तार ! हमारा सामाजिक जीवन !
सुख-दिनोका कहना ही क्या ?— पा सकें भूली-सी निधियाँ,
क्योंकि उनका साझी संसार !! और सुलझा पाएँ उलझन !!

आत्मिक क्रान्ति

[ले०---बा० ज्योतिप्रसाद जैन, विशारद, एम.ए०, एलएल.बी. वकील]

आज संसारके प्रायः प्रत्येक देशमें एक न एक ऐसा जनसमुदाय अवश्य अवस्थित है जिसका हार्दिक विश्वास है कि जनसाधारणके दासत्व, पतन तथा दारिद्रकी एक मात्र महौषधि क्रान्ति ही है। यदि समाज-विशेषकी आर्थिक अवस्था असह्य रूपसे हीन हो जाय तो उक्त समाजके लिये क्रान्ति अनिवार्य्य है। क्रान्तिके बड़े २ समर्थक कार्लमार्क्स इत्यादि का कथन है कि समस्त लौकिक बुराइयों तथा कष्टोंका कारण पूंजीवाद है जिसका विनाश अवश्यम्भावी है। अत्याचारियोंका दमन क्रान्तिचक्र-द्वारा ही संभव है। इतिहास साक्षी है कि कभी भी कोई शक्तिशाली समुदाय बिना बल-प्रयोगके पदच्युत न होसका।

क्रान्तिकारियोंके कथनानुसार मनुष्य-समाज परिवर्तनशील है। यद्यपि यह परिणमन निरन्तर होता रहता है, किन्तु शायद ही कभी व्यवस्थित एवं नियमित रूपमें लक्षित होता है। क्रान्ति भी एक परिवर्तन है; किन्तु अन्य साधारण परिवर्तनोंसे भिन्न एक विशेष प्रकारका परिवर्तन है। ख़ाली परिवर्तन ही नहीं, एक प्रकारकी सामूहिक एवं संगठित क्रिया है। मनुष्यके आर्थिक एवं औद्योगिक पतनकी राजनैतिक प्रतिक्रिया है। यह एक ऐसा आन्दोलन है जिसमें समाज विशेषकी समस्त मानसिक एवं शारीरिक शक्तियां एक आदर्श प्राप्तिके पीछे पड़ जाती हैं।

क्रान्ति-विज्ञानकी दृष्टिसे प्रत्येक क्रान्तिका मूल कारण मनुष्यकी मूल एषणाओंमें निहित है। और ये मूल-एषणाएँ चार हैं—ज्ञानैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा तथा पुत्रैषणा। यदि किसी समाजके नियमों और उसकी संस्थाओंमें उक्त मूलैषणाओंकी तृप्तिके पर्याप्त साधन मौजूद हैं तो वह समाज एक सन्तुष्ट एवं स्थायी समाज है, और यदि नहीं, तो वह क्रान्तिके लिये एक उपयुक्त क्षेत्र हो जाता है। जितने जितने अंशोंमें समाज-विशेषमें इन मूल एषणाओंका दमन होता है उतने उतने ही अंशोंमें आनेवाली क्रान्ति हीनाधिक रूपसे तीव्र होती है।

इसके अतिरिक्त क्रान्तिका मूलतत्व आशा है। प्रारम्भसे ही आशाका संचार एवं निराशाका परिहार इसका प्रभाव है। पीड़ितोंके हृदयमें जबतक क्रान्तिकी सफलताका विश्वास तथा तज्जन्य आशाका प्रादुर्भाव नहीं होता वह क्रान्ति उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। और यह तभी हो सकता है कि जब अत्याचार तथा दमन वास्तवमें तो कुछ कम हो जाते हैं किन्तु पीड़ित व्यक्ति अपनी वस्तु-स्थिति तथा कष्टोंका पूर्ण अनुभव करने लगते हैं। अतः क्रान्तिकी मुख्य प्रेरक शक्ति आशा ही है।

क्रान्तिके उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचनसे हमारा आशय लौकिक क्षेत्रमें क्रान्तिका खंडन अथवा मंडन करना नहीं है, वरन् यह दिखलाना है कि समाजशास्त्र-विज्ञोंने जो वैज्ञानिक विवेचन राजनैतिक अथवा सामाजिक क्रान्तिका दिया है, वही आश्चर्यजनक रूपमें आत्मिक क्रान्तिमें भी अक्षरशः घटित होता है।

एक भव्यात्मा जिस समय चारित्र-धनके अभावमें

इन्द्रिय-विषयक परतन्त्रतामें जकड़ा हुआ पतनके गर्त्तमें डूब जाता है तो उसके उद्धारका एकमात्र उपाय आत्मिक क्रान्ति ही है। समस्त सांसारिक दुखोंके कारण लोभ-मोह हैं। जिस प्रकार राजनैतिक एवं सामाजिक कष्टोंका कारण पूंजीवाद अर्थात् पूंजीपतियोंका निरन्तर निज शक्तिवर्धन तथा उपभोग है उसी प्रकार प्राणीके समस्त सांसारिक कष्टोंका मूल कारण लोभ-मोह-जनित परिग्रह-वृद्धि तथा विषयाकांक्षा ही है, जिससे त्राण पानेका साधन इन्द्रिय-दमन रूप प्रवृति है। बिना तप संयमादिक बल-प्रयोगोंके कभी कोई आत्मा चारित्र्य-सत्ता-प्राप्तिमें सफल नहीं हुआ।

अन्य पदार्थोंकी भाँति आत्म द्रव्यभी परिणमनशील है। किन्तु यह आत्म-परिणमन सदा स्वाभाविक ही नहीं हुआ करता, वरन् प्रायः वैभाविक ही होता है। आत्मा अपने निजी स्वभावको भूलकर विकारग्रस्त हो जाता है और सब प्रकारके कष्टकर दुःखोंका निरन्तर शिकार बना रहता है। उसकी दशा बहुधा उस बन्दीके समान होती है जो बन्दीखानेमें ही जन्म लेता है, किन्तु जिसे कभी ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं होता कि वह अपने जन्मस्थानके वास्तविक स्वरूपको जान सके। वह यह भी नहीं जान पाता कि उसके आस पास जो बहुमूल्य फ़र्नीचर एवं भोगोपभोगकी प्रचुर सामग्री विद्यमान है वह कवीन्द्र रवीन्द्रके शब्दोंमें उसके मानरूपी दुर्गको ऐसी अलक्ष्य किन्तु सुदृढ़ दीवारें हैं जो न केवल उसकी स्वतन्त्रताका भी अपहरण किये हुएहैं, वरन उक्त स्वतन्त्रता-प्राप्तिकी इच्छाका भी अभाव किए हुए हैं। सांसारिक मोहजालमें फँसे हुए उस आत्माके लिये आत्मिक स्वातन्त्र्य प्राप्त करना दुर्लभ ही नहीं किन्तु वह उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नवान भी नहीं होता। उस मोहान्ध आत्माको आत्म जागृतिके दिव्य लोकमें आनेकी इच्छा ही नहीं होती।

परन्तु यह आत्मिक क्रान्ति एक ऐसा आन्दोलन है, आत्मिक पतनकी ऐसी आध्यात्मिक प्रतिक्रिया है कि उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ और समस्त शक्तियाँ अपने आदर्श, अपनी स्वाभाविक अवस्था—पूर्ण स्वतन्त्रता-प्राप्तिके कार्यमें संलग्न हो जाती हैं। समस्त आत्मिक शक्तियाँ सामूहिक एवं सुसंगठित रूपसे क्रियावान हो जाती हैं। राजनैतिकअथवा सामाजिक क्षेत्र-सम्बन्धी क्रान्तियोंकी कारणभूत चार मूलैषणाओंकी भाँति इस आध्यात्मिक क्रान्तिकी कारण भी ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य—अनन्त चतुष्टय-रूप परमानन्दमय पूर्ण स्वतन्त्र अवस्थाकी प्राप्त्यर्थ आत्मिक मूलैषणाएँ ही हैं जो वास्तवमें प्रत्येक प्राणीकी आत्मामें लक्ष्य अथवा अलक्ष्य रूपमें विद्यमान हैं।

जिन आत्माओंमें उक्त मूलैषणाओंकी तृप्तिके साधन अवस्थित हैं अर्थात् जिन्हें अपने स्वाभाविक गुणोंका अपने स्वरूपका भान है और जो उसकी प्राप्तिमें संलग्न हैं उन्हें इस क्रान्तिकी आवश्यकता नहीं है। ये सम्यक्त्व युक्त आत्मायें उन्नतिशील हैं और अपने उद्योगमें सफल ही होकर रहेंगी। अपने ध्येयको, अपने आदर्शको जबतक प्राप्त नहीं करलेंगी प्रयत्न नहीं छोड़ेंगी।

किन्तु जो आत्माएँ इतनी भाग्यशाली नहीं हैं और अभी तक पतनकी ओर ही अग्रसर हो रही हैं, जिन्होंने सब सुध बुध खो रक्खी है, जो इस पञ्च परिवर्तन रूप संसारमें अनादिसे गोता खा रही हैं और यदि ऐसी ही अवस्था रही तो न मालूम कबतक इसी प्रकार जन्म मरणरूप संसारके दुःख भोगती रहें। उन्हें ही इस क्रान्तिकी आवश्यकता है, जिसके लिये पतनकी तीव्रताके अनुसार ही तप संयमादिक रूप

बल प्रयोगकी तीव्रता अपेक्षित है।

इस क्रान्तिका मूल तत्व भी आशा है। नवोदित आशाके स्फुरणसे प्रेरित हो यह भव्यात्मा अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। उस समय आत्मिक पतनके होते हुए भी कुछ इस प्रकार मन्दकषायका उदय होता है कि अपनी वस्तु-स्थितिसे उक्त आत्मा असन्तुष्ट हो जाता है, अपनी अवस्था उसे असह्य हो जाती है। उसके अन्तरमें एक प्रकारका घोर आन्दोलन होने लगता है। वह अपनी समस्त शक्तियोंको एकत्रित करके आत्म-प्रवृत्तिका रुख बदल देता है तथा आत्मोन्नतिकी ओर अग्रसर होने लगता है।

यह परिवर्तन ही आत्मिक-क्रान्ति है और यही सच्ची क्रान्ति है। प्राणीकी सच्ची भूखसे प्रेरित हुई सच्चा अक्षय सुख प्राप्त करानेवाली अमर क्रान्ति यही है। अन्य समस्त, राजनैतिक, सामाजिक आदि क्रान्तियों का फल स्थायी नहीं होता, थोड़े या अधिक समय उपरान्त फिर दशा पतित हो ही जाती है, चाहे कितनी भी सफल क्रान्ति क्यों न हो। किन्तु आत्मिक क्रान्ति यदि सफल हो जाय तो इसका फल चिरस्थायी ही नहीं, अविनाशी और अनन्त होता है। अतः यदि किसी क्रान्तिके अमरत्वकी भावना लानेकी आवश्यकता है तो वह आत्मिक क्रान्तिकी ही है।

सम्बोधन

[ले० ब्र० 'प्रेम' पंचरत्न]

चपल मन ! क्यों न लेत विश्राम ?
क्यों पीछे पड़ गया किसीके, तजकर अपना धाम ?
आशा छोड़ निराशा भजले, श्वासाको ले थाम ॥चपल०॥
आज कहत कल करत नहीं है, भूला तू निज काम ।
कब पावे वह समय भजे जब, अपना आतमराम ॥ चपल०॥
यह काया नहिं रहे एक दिन, जिसका बना गुलाम ।
माया-मोह महा ठग जगमें, मतले इनका नाम ॥ चपल०॥
अब मत यहाँ-वहाँ पर भपके, आजा अपने ठाम ।
'प्रेम' पियूष पान कर अपना, पावे सुख अभिराम ॥चपल०॥

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और जैनदर्शन

[ले०--पं० सुमेरचन्द जैन न्यायतीर्थ, 'उन्निनीषु' देवबन्द यू. पी.]

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग ही हिन्दी भाषाकी सर्वतोमुखी उन्नति करने वाली एक मात्र संस्था है। इसलिए उसने अपना एक स्वतन्त्र हिन्दी-विश्व-विद्यालय कायम कर लिया है, जिसमें भारतके प्रत्येक प्रान्त और धर्मके अनुयायी बिना किसी भेद-भावके परीक्षा देते हैं। इन परीक्षाओंकी मान्यता सरकार और जनता दोनों में ही है। अतः यह संस्था अधिक सर्वप्रिय बनती जाती है। इधर हमारे समाजके विद्यार्थी सम्मेलनकी परीक्षामें अधिक सम्मिलित होने लगे हैं, परन्तु सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैनधर्म सम्बन्धी कोई विषय नहीं रक्खा है, इसलिये जैनविद्वानोंका ध्यान इस तरफ आकर्षित हुआ। इस विषयमें पंडित रतनलालजी संघवीने संस्थाके प्रधानमंत्री श्रीमान् पं० दयाशंकरजी दुवेके साथ दो वर्ष तक लगातार पत्रव्यवहार किया। इस पत्रव्यवहारमें संघवीजीने प्रथम दुवेजीको यह लिखा था कि 'सम्मेलनकी प्रथमा और विशारद परीक्षामें जैनदर्शन वैकल्पिक विषयमें सम्मिलित कर लिया जाय।' उसपर दुवेजीने अपने अन्तिम पत्रमें यह बात प्रकट की कि 'मैं सम्मेलनकी परीक्षामें जैनदर्शन रखनेके पक्षमें हूँ; परन्तु हमारी परीक्षा-समिति इसके लिये तैयार नहीं है।' इसके बाद क्या हुआ? इस विषयमें मुझे कुछ भी पता नहीं। पर हाँ, उनके पत्रसे निश्चित है कि उन्होंने प्रेमपूर्ण जवाब देकर टालमटूल कर दी; इसलिये संघवीजी निराश होकर यह कार्य किसी अन्यके सुपुर्द करना चाहते थे। यही बात उन्होंने 'अनेकान्त' में प्रकट की थी। इस बातको पढ़कर मेरे मनमें यह जाननेका कौतुक उत्पन्न हुआ कि परीक्षा-समिति क्यों जैनदर्शन-ग्रन्थ रखना नहीं चाहती? इस विषयमें मैंने उन्हें एक पत्र लिखा उसमें जैनदर्शन और अपभ्रंश साहित्यकी आवश्यकता सम्बन्धी एक लेख लिखा। अन्तमेंयह भी लिखा, कि बिना जैनदर्शनके समझे दर्शनोंका विकाश और अपभ्रंश भाषाके बिना हिन्दी-साहित्यके निकासका पता नहीं लगाया जा सकता है। उत्तरमें श्रीमान् पंडित रामचन्द्रजो दीक्षित रजिस्ट्रार हिन्दी-विश्वविद्यालय प्रयागका जो पत्र मिला वह इस प्रकार है:-

प्रियमहोदय!

आपका पत्र मिला।

जैनदर्शनको सम्मेलन परीक्षाओंमें स्थान देने के सम्बन्धमें परीक्षा समितिने निश्चय कर लिया है। इस सम्बंधमें लिखा पढ़ी भी हो रही है।

भवदीय--

रामचन्द्र दीक्षित

रजिस्ट्रार हिन्दी विश्वविद्यालय प्रयाग।

इस पत्रसे विदित होता है कि रजिस्ट्रार महोदय सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैन-दर्शन रखने के लिए तैयार हैं। परीक्षा-समितिने निश्चय कर

लिया है और तद्विषयक पत्र व्यवहार भी वे कर रहे हैं। लेकिन उन्होंने अपभ्रंश भाषाके विषयमें कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। इसलिए अपभ्रंश भाषाके विद्वान् बाबू हीरालालजी एम.ए. प्रोफेसर किङ्ग एडवर्ड कालेज अमरावती और जो इस विषयके पूर्ण विद्वान् हैं, उन्हें एक कोर्स बनाना चाहिए, ताकि जैनदर्शनके साथ २ प्रथमा, मध्यमा, साहित्यरत्नके कोर्समें अपभ्रंश भाषाका भी साहित्य रखवाया जा सके। इस विषयमें जो विद्वान् सलाह देना चाहें वे कृपया पत्रोंमें उसे प्रकाशित करवा देवें या मेरे पास भिजवा दें। क्योंकि अपभ्रंश साहित्यके उद्धार होने से मध्यकालीन भाषा विकास पर अधिक प्रकाश पड़नेकी आशा है। जैनदर्शन सम्बन्धी कोर्सके लिए श्रीमान् न्यायाचार्य पं०महेन्द्रकुमार जी शास्त्री और पूज्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीको प्रकाश डालना चाहिए, जिससे रजिस्ट्रार महोदयको कोर्सके रखनेमें सहूलियत हो सके। और जो विद्वान् मेरे पास भेजना चाहें वे मेरे पास भेजदें। मैं कोर्स नियत करवाकरके उनके पास भेज दूंगा। आशा है विद्वान् मेरे इस निवेदन पर ध्यान देंगे। जैनदर्शनका कोर्स सम्मेलनकी परीक्षामें रक्खे जाने का अधिकांश श्रेय भाई रतनलाल जी संघवी न्यायतीर्थको ही है, जिन्होंने इस विषयमें लगातार दो वर्षसे प्रयत्न किया है।

- जीवन-साध -

[ले०—पं० भवानीदत्त शर्मा 'प्रशांत']

मेरी जीवन-साध !

पर-हितमें रत रहूँ निरन्तर,
मनुज-मनुजमें करूँ न अन्तर।
नस-नसमें बह चले देशकी प्रेमधार निर्बाध॥
मेरी जीवन-साध ॥ १॥

बौद्ध, जैन, सिख, आर्य, सनातन,
यवन, पारसी और क्रिश्चियन।
हिन्द-देशके सब पुत्रोंमें हो अब मेल अगाध॥
मेरी जीवन-साध ॥ २॥

देश-प्रेमका पाठ पढ़ें हम,
साक्षरता-विस्तार करें हम।
लिपी-भेद करनेका हमसे हो न कभी अपराध॥
मेरी जीवन-साध ॥ ३॥

अपने अपने मनमें प्रण कर,
एक दूसरे को साक्षरकर।
निज-स्वतन्त्रताके प्रिय पथसे दूर करें हम बाध॥
मेरी जीवन-साध ॥ ४॥

हरिभद्रसूरि

[ले०—पं० सुखलालजी संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद]

विषय-प्रवेश

भारतीय साहित्यकारों और भारतीय वाङ्मयके उपासकोंमें साहित्य-महारथि, आचार्यप्रवर, विद्वान्-चक्र-चूड़ामणि, वादीभगजकेसरी, याकिनीसूनु, महामान्य श्री हरिभद्रसूरिका स्थान बहुत ही ऊंचा है। इनकी प्रखर-प्रतिभा, बहुश्रुतता, विचारपूर्ण मध्यस्थता, अगाध गंभीरता, विचक्षण वाग्मीता, और मौलिक एवं असाधारण साहित्य सृजन-शक्ति आदि अनेक सुवासित सद्गुण आपकी महानता और दिव्यताको आज भी निर्विवाद रूपसे प्रकट कर रहे हैं। आपके द्वारा विरचित अनुपम साहित्य-राशिमेंसे उपलब्ध अंशका अवलोकन करने से यह स्पष्टरूपेण और सम्यक् प्रकारेण प्रतीत होगा कि आप भारतीय साहित्य संस्कृतिके एक धुरीणतम विद्वान् और उज्ज्वल रत्न थे।

आपकी पीयूषवर्षिणी लेखनीसे निसृत सुमधुर और साहित्य-धाराका आस्वादन करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि जैन-आगम-साहित्य (मूल, निर्युक्तियाँ आदि) से इतर उपलब्ध जैन-साहित्यमें अर्थात् (Classical Jain literature) में यदि सद्धसेन दिवाकर सूर्य तो आचार्य हरिभद्र शारदीय पूर्णिमाके सौम्यचन्द्र हैं। यदि इसी अलंकारिक भाषामें जैन साहित्याकाशका वर्णन करते चलें तो कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ध्रुव तारा हैं। इस प्रकार जैन साहित्याकाशके ये सूर्य चन्द्र और ध्रुवतारा-द्वारा प्रदर्शित दिशा निर्देशसे कोई भी जैन-साहित्यका मुमुक्षु पथिक पथ-भ्रष्ट नहीं हो सकता है।

जैन पुरातत्व साहित्यके आचार्य श्री जिनविजयजी ने लिखा है कि—"हरिभद्रसूरिका प्रादुर्भाव जैन इतिहासमें बड़े महत्वका स्थान रखता है। जैनधर्मके—जिसमें मुख्यकर श्वेताम्बर संप्रदायके—उत्तर कालीन स्वरूपके संगठन कार्यमें उनके जीवनने बहुत बड़ा भाग लिया है। उत्तरकालीन जैन साहित्यके इतिहासमें वे प्रथम लेखक माने जानेके योग्य हैं। और जैनसमाज के इतिहासमें नवीन संगठनके एक प्रधान व्यवस्थापक कहलाने योग्य हैं। इस प्रकार वे जैनधर्मके पूर्वकालीन और उत्तरकालीन इतिहासके मध्यवर्ती सीमास्तम्भ समान हैं।"

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र विद्वत्ताकी दृष्टिसे तो धुरीणतम हैं ही; आचार, विचार और सुधारकी दृष्टिसे भी इनका स्थान बहुत ही ऊंचा है। वे अपने प्रकांड पांडित्यसे गर्भित, प्रौढ़ और उच्चकोटिके दार्शनिक एवं तात्विक ग्रंथोंमें जैनेतर ग्रंथकारोंकी एवं उनकी कृतियोंकी आलोचना प्रत्यालोचना करते समय भी उन भारतीय साहित्यकारोंका गौरव पूर्वक और प्रतिष्ठाके साथ उदार एवं मधुर शब्दों द्वारा समुल्लेख करते हैं। दार्शनिक संघर्षणसे जनित तत्कालीन आक्षेपमय वातावरणमें भी इस प्रकारकी उदारता रखना आचार्य हरिभद्र सूरिकी श्रेष्ठताका सुंदर और ज्वलंत प्रमाण है। इस दृष्टिसे इस कोटिके भारतीय साहित्यक विद्वानोंकी श्रेणीमें

हरिभद्रसूरिका नाम प्रथम श्रेणीमें लिखनेके योग्य है।

जैन-समाजमें हरिभद्रसूरि नाम वाले अनेक जैनाचार्य और ग्रंथकार हैं। किन्तु प्रस्तुत हरिभद्र वे हैं, जो कि याकिनी महत्तरासूनुके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये ही आचार्य शेष अन्य सभी हरिभद्रोंकी अपेक्षासे गुणोंमें, ग्रंथ-रचनाओंमें और जिन-शासनकी प्रभावना करनेमें अद्वितीय हैं। इनका काल श्री जिनविजयजीने ई० सन् ७०० से ७७० तक अर्थात् विक्रम संवत् ७५७ से ८२७ तक का निश्चित् किया है, जिसे जैनसाहित्यके प्रगाढ़ अध्येता स्वर्गीय प्रोफेसर हरमन याकोबीने भी स्वीकार किया है, और जो कि अन्ततोगत्वा सर्वमान्य भी हो चुका है। हरिभद्र नामके जितने भी जैन साहित्यकार हुए हैं; उनमेंसे चरित्र-नायक प्रस्तुत हरिभद्र ही सर्वप्रथम हरिभद्र हैं।

दार्शनिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक और सामाजिक आदिरूप तत्कालीन भारतीय संस्कृतिको तथा चारित्रिक एवं नैतिक स्थितिके धरातलको और भी अधिक ऊंचा उठानेके ध्येयसे आचार्य हरिभद्र सूरिने सामाजिक प्रवाह और साहित्य-धाराको मोड़ कर नवीन ही दिशाकी ओर अभिमुख कर दिया। सामाजिक-विकृतिके प्रति कठोर रुख धारण किया और उसकी कड़ी समालोचना की। विरोध-जन्य कठिनाइयोंका वीरता पूर्वक सामना किया, किन्तु सत्य मार्गसे ज़रा भी विचलित नहीं हुए। यही कारण था कि जिससे समाजमें पुनः स्वस्थता प्रदायक नवीनता आई और भगवान् महावीर स्वामीके आचार-क्षेत्रके प्रति पुनः जनताकी श्रद्धा और भक्ति बढ़ी।

जिस प्रकार आचार्य सिद्धसेन दिवाकरका और स्वामी समन्तभद्रका जिनशासनकी प्रभावना करनेमें एवं जैन-साहित्यकी धारामें विशेषता प्रदान करनेमें सदृश्य स्थान है; वैसा ही महत्त्वपूर्ण और आदर्शस्थान साहित्य क्षेत्रमें एवं मुख्यतः न्याय-साहित्य क्षेत्रमें भट्ट अकलंकदेव और आचार्य हरिभद्रका समझना चाहिये। आश्चर्य तो यह है कि इनके जीवन चरित्र तकमें कुछ हेरफेरके साथ काफ़ी साम्यता है। इन दोनोंने ही साहित्य-क्षेत्रमें ऐसी मौलिकता प्रदान की कि जिससे उसमें सजीवता, स्फूर्ति, नवीनता और विशेषता आई। इस मौलिकताने ही आगे चलकर भारतीय धार्मिक क्षेत्रमें जैन धर्मको पुनः एक जीवित एवं समर्थ धर्म बनाकर उसे "जन-साधारणके हितकारी धर्म" के रूपमें परिणत कर दिया। कुछ समय पश्चात् ही जैनधर्म पुनः राजधर्म हो उठा और इस प्रभावका ही यह फल था कि हेमचन्द्र और अमारिपडहके प्रवर्तक सम्राट कुमारपाल सरीखी व्यक्तियाँ जैन समाजमें अवतीर्ण हुईं। इन्हीं आचार्यों द्वारा विरचित साहित्यके प्रभावसे दक्षिण भारत, गुजरात तथा उसके आसपासके प्रदेशोंमें जैन धर्म, जैन साहित्य और जैनसमाज समर्थ एवं अनेक सद्गुणोंसे युक्त एक उच्च कोटिकी धार्मिक और नैतिक संस्कृतिके रूपमें पुनः प्रख्यातः हो उठा। इन्हीं कारणों पर दृष्टिपात करनेसे एवं तत्कालीन परिस्थितियोंका विश्लेषण करनेसे यह भले प्रकार सिद्ध हो जाता है कि हरिभद्रसूरि एक युग-प्रधान और युग-निर्माता आचार्य थे।

आचार-क्षेत्र, विचार-क्षेत्र और साहित्य-क्षेत्रमें इनके द्वारा नियोजित मौलिकता, नवीनता, और अनेकविध विशेषताको देखकर झटिति मुँहसे यह निकल पड़ता है कि आचार्य हरिभद्र कलिकाल सर्वज्ञ स्वामी हैं। निबंधके आगेके भागसे पाठकोंको यह ज्ञात होजायगा कि यह कथन अतिरंजित केवल काव्यात्मक वाक्य ही नहीं है, बल्कि तथ्यांशको लिये हुए है।

पूर्वकालीन और तत्कालीन स्थिति

भगवान् महावीर स्वामी, सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामीके निर्वाणकालके पश्चात् ही जैन आचार और जैन साहित्य-धारामें परिवर्तन होना आरंभ हो गया था। जैन-पारिभाषिक भाषामें कहें तो केवल ज्ञान का सर्वथा अभाव हो गया था, और साधुओंमें भी आचार-विषयको लेकर संघर्ष प्रारंभ हो गया था; जो कि कुछ ही समय बाद आगे चलकर श्वेताम्बर-दिगम्बर रूपमें फूट पड़ा। वीरसंवत्की दूसरी शताब्दि-के मध्यमें अर्थात् वीरात् १५६ वर्ष बाद ही भद्रबाहु स्वामी—जिनका कि स्वर्गवास संवत् वीरात् १७० माना जाता है—अंतिम पूर्ण श्रुतकेवली हुए। श्रुत-केवल ज्ञान भी अर्थात् १४ पूर्वोंका ज्ञान भी एवं अन्य आ-गम ज्ञान भी भद्रबाहुस्वामीके पश्चात् क्रमशः धीरे धीरे घटता गया, और इस प्रकार वीरकी नववीं शताब्दि तकके कालमें याने देवर्द्धि क्षमाश्रमणके काल तक अति स्वल्पमात्रामें ही ज्ञानका अंश अवशिष्ट रह गया था। हरिभद्र सूरिका काल वीरकी १३वीं शताब्दि है। इन १३०० वर्षोंका साहित्य वर्तमानमें उपलब्ध संपूर्ण जैन वाङ्मयकी तुलनामें अष्टमांशके बराबर ही होगा। यह कथन परिमाणकी अपेक्षासे समझना चाहिये, न कि महत्वकी दृष्टिसे। पूर्व शताब्दियोंका साहित्य पश्चात् की शताब्दियोंकी अपेक्षासे बहुमहत्त्वशाली है, इसमें तो कहना ही क्या है।

इन प्रथम तेरह शताब्दियोंके साहित्यमें से वर्तमान में उपलब्ध कुछ मूल आगम, भद्रबाहु स्वामीकृत कुछ निर्युक्तियाँ, उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रंथ, पाद-लिप्तसूरिकी कुछ साराँशरूप कृतियाँ, सिद्धसेन दिवाकर की रचनाएँ, सिंह क्षमाश्रमण सूरिका नयचक्रवाल, और शिवशर्मसूरि, चंद्रर्षि, कालिकाचार्य, संघदास, धर्मसेन, एवं जिनभद्र गणिक्षमाश्रवण आदि कुछेक आचार्यों द्वारा रचित कुछ ग्रंथ पाये जाते हैं। किन्तु स्थूलिभद्र आदि जो अनेक गंभीर विद्वान् आचार्य वीर-संवत् की इन त्रयोदश शताब्दियोंमें हुए हैं; उनकी कृतियोंका कोई पता नहीं चलता है। इन महापुरुषोंने साहित्यकी रचना तो अवश्य की होगी ही; क्योंकि जैन-साधुओंका जीवन निवृत्तिमय होनेसे—साँसारिक झँझटोंका अभाव होनेसे—सारा जीवन साहित्य सेवा और ज्ञानाराधनमें ही लगा रहता था। अतः जैन सा-हित्य वीर-निर्वाणके पश्चात् सैकड़ों विद्वान् जैनसाधुओं द्वारा विपुलमात्रामें रचा तो अवश्य गया है, किन्तु वह जैनेतर विद्वेषियों द्वारा और मुस्लिम युगकी राज्य क्रान्तियों द्वारा नष्ट कर दिया गया है—ऐसा निश्च-यात्मकरूपसे प्रतीत होता है।

बौद्धधर्म और जैनधर्मने वैदिक एकान्त मान्यताओं पर गहरा प्रहार किया है। और बौद्ध-दर्शनकी विचार-प्र-णालिसे तो ज्ञात होता है कि बौद्ध-दार्शनिकोंने जैनधर्म और वैदिकधर्मको भारतसे समूल नष्ट करनेका मानो निश्चय सा कर लिया था, और विभिन्न प्रणालियों द्वारा ऐसा गंभीर धक्का देनेका प्रयत्न किया था कि जिससे ये दोनों धर्म केवल नामशेषमात्र अवस्थामें रह जायँ। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये बौद्ध-साधु और बौद्ध-अनुयायी जनसाधारणकी मंत्र, तंत्र और औषधि आदि एवं धनादिकी सहायता देकर हर प्रकारसे सेवा-शुश्रुषा करने लगे, और इस तरह जनसाधारणको उपदेश एवं लोभ आदि अनेक क्रियाओं द्वारा बौद्धधर्म की ओर आकर्षित करने लगे। अशोक आदि जैसे समर्थ सम्राटोंको बौद्ध बना लिया और इस तरह भूमि तैयार कर वैदिक धर्म एवं जैनधर्म को हानि पहुँचाने लगे। वैदिक-साहित्य और जैन साहित्यको भी नष्ट

करने लगे और सैकड़ों ग्रंथ-भंडार नेस्तनाबूद कर दिये गये।

कुछ काल पश्चात् बौद्ध साधुओंमें भी विकृति और शिथिलता आगई, इन्द्रिय पौषणकी ओर प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई; केवल शुष्क तर्क-जालके बलसे ही अपनी मर्यादाकी रक्षा करने लगे; और इतर धर्मोंके प्रति विद्वेष की भावनामें और भी अधिक वृद्धि कर दी। यही कारण था कि बौद्धोंको निकालनेके लिये समय आते ही उत्तर भारतमें शंकराचार्यने प्रयत्न किया, दक्षिणमें कुमारिल भट्टने प्रयास किया और गुजरात आदि प्रदेशोंमें जैनाचार्योंने इस दिशामें योग दिया। बौद्धोंका बल क्रमशः घटने लगा और वैदिक सत्ता पुनः धीरे २ अपने पूर्व आसनपर आकर जमने लगी। अनेक राजा महाराजा पुनः वैदिक धर्ममें दीक्षित होगये और इस तरह वैदिक धर्म अपनी पूर्वावस्थामें आते ही बौद्धधर्म के साथ २ जैनधर्मका भी नाश करनेके लिये उद्यत हो गया। इस तरह पहले बौद्ध दार्शनिक और बादमें वैदिक दार्शनिक, दोनों ही जैन साहित्यपर टूट पड़े और अनेक जैन साहित्यके प्राचीन भँडारोंको अग्निके समर्पण कर उसे नष्ट कर दिया। इन कारणोंके साथ२ भयंकर दुष्काल और राज्य-क्राँतियाँ भी जैन-साहित्यको नष्ट करनेमें कारणरूप हुई हैं। यही कारण है कि हरिभद्रसूरिके पूर्व जैन-साहित्य इतनी अल्प मात्रामें ही पाया जाता है। जो कुछ भी वर्तमानमें उपलब्ध है, उसका $\frac{७}{८}$ भाग हरिभद्रसूरिके कालसे लगाकर तत्पश्चात् कालका है। अतः जैन साहित्य-क्षेत्रमें हरिभद्रसूरिका असाधारण स्थान है, यह निस्संकोचरूपसे कहा जा सकता है।

भारतीय साहित्यका दैवदुर्विपाक यहीं तक समाप्त नहीं हो गया था, उसकोगर्भमें और भी दुःख देखने शेष थे। भारतपर मुसलमानोंके आक्रमण प्रारम्भ हुए। धनापहरणके साथ २ धर्मान्ध मुसलमानोंने भारतीय साहित्य भी नष्ट करना प्रारम्भ किया और इस तरह बचा हुआ जैन साहित्यका भी बहुत कुछ अंश इस राज्य-क्रांतिके समय काल-कवलित हो गया। उस काल में जैनसाहित्यकी रक्षा करनेके दृष्टिकोणसे बचा हुआ साहित्य गुप्त भंडारोंमें रखा जाने लगा; किन्तु कुछ ऐसे रक्षक भी मिले, जिनके उत्तराधिकारियोंने भंडारोंका मुख सैंकड़ों वर्षों तक नहीं खोला; परिणाम स्वरूप बहुत कुछ साहित्य कीट-कवलित हो गया; पत्ते सड़ गये-गल गये और अस्त-व्यस्त हो गये। इस प्रकार जैन साहित्य पर दुःखोंका ढेर लग गया, वह कहां तक जीवित रहता? यही कारण है कि हरिभद्रसूरिके पूर्वका साहित्य $\frac{१}{८}$ भागके बराबर है और बादका $\frac{७}{८}$ भागके बराबर है। यह तो हुआ हरिभद्र सूरिके पूर्व कालीन और तत्कालीन साहित्यिक स्थितिका सिंहावलोकन। अब इसी प्रकार आचार-विषयक स्थितिकी ओर दृष्टिपात करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

यह पहले लिखा जा चुका है कि आचार-विषयक फूटका इतना गहरा प्रभाव हो चुका था कि जिससे श्वेताम्बर और दिगम्बर रूपसे दो भेद होगये थे। स्थिति यहीं तक नहीं रुक गई थी। आचार शिथिलता दिनों-दिन बढ़ती गई। इन्द्रिय विजयता और इन्द्रिय दमनके स्थान पर इन्द्रिय लोलुपता, स्वार्थ-परता एवं यशो-लिप्सा आदि अनेक दुर्गुणोंका साम्राज्य-आचार क्षेत्रमें अपना पैर धीरे २ किंतु मज़बूतीके साथ जमाने लग गया था। साधुओंका पतन शोचनीय दशाको प्राप्त हो गया था। आचार्य हरिभद्रसूरिने इस परिस्थिति की अत्यंत कठोर समालोचना की है। आप ही की शक्तिका यह प्रभाव था कि जिससे जनता और

साधु-संस्था पुनः वास्तविक और आदर्श मार्गके प्रति श्रद्धामय और भक्तिशील हुई। आचार्य हरिभद्रसूरिने अपने 'संबोध-प्रकरण' में तत्कालीन परिस्थितिका वर्णन इन शब्दोंमें किया है:--"ये साधु चैत्य और मठमें रहते हैं। पूजा आदि क्रियाओंका आरम्भ समारम्भ करते हैं। स्वतःके लिये देव-द्रव्यका उपयोग करते हैं। जिनमन्दिर और शालाओंका निर्माण कराते हैं। ये मुहूर्त्त निकालते हैं। निमित्त बतलाते हैं। इनका (साधुओंका) कहना है कि श्रावकोंके पास सूक्ष्म बातें नहीं कहनी चाहियें। ये भस्म (राख) भी तंत्र रूपसे देते हैं। ये विविध रंगके सुगंधित और धूपित वस्त्र पहिनते हैं। स्त्रियोंके सामने गाते हैं। साध्वियों द्वारा लायाहुआ काममें लाते हैं। तीर्थ-स्थानके पंडोंके समान अधर्मसे धन इकट्ठा करते हैं। दिनमें दो तीन बार खाते हैं। पान आदि वस्तुएँ भी खाते हैं। घी-दूध आदिकाभी खूब प्रयोग करते हैं। फल-फूल और सचित्त पानीका भी उपयोग करते हैं। जाति भोजनके समय मिष्टान्नको भी ग्रहण कर लेते हैं। आहारके लिये खुशामद करते हैं। पूछने पर भी सत्य धर्मका मार्ग नहीं बतलाते हैं। प्रातःकाल सूर्योदय होते ही खाते हैं।

विकृति उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंका भी बार बार उपयोग करते हैं। केश-लुंचन भी नहीं करते हैं। शरीरका मैल उतारते हैं। साधु योग्य करणीय शुद्ध चारित्रके अनुरूप क्रियाओंको करते हुए भी लज्जित होते हैं। अकारण ही कपड़ोंका ढ़ेर रखते हैं। स्वयं पतित होते हुए भी दूसरोंको प्रायश्चित देते हैं। पडिलेहणा (प्रतिलेखना) भी नहीं करते हैं। वस्त्र, शैय्या, जूते, वाहन, आयुध, और तांबे आदिके पात्र रखते हैं। स्नान करते हैं। सुगंधित तेलका उपयोग करते हैं। शृंगार करते हैं। अत्तर फूलेल लगाते हैं। अमुक ग्राम मेरा और अमुक कुल मेरा—ऐसा ममत्वभाव रखते हैं। स्त्रियोंका प्रसंग रखते हैं। श्रावकोंको कहते हैं कि मृतकार्य (मृतभोज) के समय जिन-पूजा करो और मृतकोंका धन जिनदानमें देदो। पैसोंके लिये (दक्षिणारूपसे प्राप्त करनेके लिये) अंग उपांग आदि सूत्रोंको श्रावकोंके आगे पढ़ते हैं। शालामें या गृहस्थोंके घर पर खाजा आदि पाक पदार्थ तैयार करवाते हैं। पतित-चारित्रवाले अपने गुरुओंके नामपर उनके दाह-स्थलों पर स्मारक बनवाते हैं। बलि करते हैं। उनके व्याख्यानमें स्त्रियाँ उनकी तारीफ करती हैं। केवल स्त्रियोंके आगे व्याख्यान देते हैं। साध्वियाँ भी केवल पुरुषोंके आगे व्याख्यान देती हैं। भिक्षार्थ घर घर नहीं घूमते हैं। मंडलीमें बैठ करके भी भोजन नहीं करते हैं। संपूर्ण रात्रिभर सोते रहते हैं। गुणवानोंके प्रति द्वेष रखते हैं। क्रय-विक्रय करते हैं। प्रवचनकी ओटमें विकथाएँ करते हैं। धन देकर छोटे छोटे बालकोंको शिष्यरूपसे ख़रीदते हैं। मुग्ध पुरुषोंको ठगते हैं। जिन-प्रतिमाओंका क्रय-विक्रय करते हैं। उच्चाटन आदि मंत्रतंत्र भी करते हैं। डोरा धागा करते हैं। शासन-प्रभावनाकी ओटमें कलह करते हैं। योग्य साधुओंके पास जानेके लिये श्रावकोंको निषेध करते हैं। श्राप आदि देनेका भय बतलाते हैं। द्रव्य देकर अयोग्य शिष्योंको ख़रीदते हैं। ब्याजका धंधा करते हैं। अयोग्य कार्योंमें भी शासन-प्रभावना बतलाते हैं। प्रवचनमें कथन नहीं किये जानेपर भी ऐसे तपकी प्ररूपणा कर उसका महोत्सव करवाते हैं। स्वतः के उपयोगके लिये वस्त्र, पात्र आदि उपकरण और द्रव्य अपने श्रावकोंके घर इकट्ठे करवाते हैं। शास्त्र सुनाकर श्रावकोंसे धनकी आशा रखते हैं। ज्ञानकोशकी वृद्धि के लिये धन इकट्ठा करते हैं और करवाते हैं। आपसमें सदैव संघर्ष

करते रहते हैं। अपनी-अपनी तारीफ करके अन्य सदाचारीका विरोध करते हैं। सब ये नाम धारी साधु स्त्रियोंको ही उपदेश देते हैं। स्वच्छन्द रूपसे विचरण करते हैं। अपने भक्तके राई समान गुणको भी मेरु समान बतलाते हैं। विभिन्न कारण बतलाकर अनेक उपकरण रखते हैं। घर-घर कथाओंको कहते रहते हैं। सभी अपने आपको अर्हमित्र समझते हैं। स्वार्थ आने पर नम्र हो जाते हैं और स्वार्थ पूरा होते ही ईर्षा रखने लग जाते हैं। गृहस्थोंका बहुमान करते हैं। गृहस्थोंको संयमके मित्र बतलाते हैं। परस्परमें लड़ते रहते हैं और शिष्योंके लिये भी कलह करते हैं।" इस प्रकार आचार-विषयक शोचनीय पतनका वर्णन करते हुए अन्तमें आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं, कि—"ये साधु नहीं हैं, किन्तु पेट भरनेवाले पेटु हैं। इनका (साधुओंका) यह कहना कि—"तीर्थंकरका वेश पहिनने वाला वन्दनीय है"—धिक्कार योग्य है, निन्दास्पद है।" आचार्यश्रीने ऐसे साधुओंकी "निर्लज्ज, अमर्याद, क्रूर" आदि विशेषणोंसे गम्भीर निन्दा की है। ऐसा ही साधु चरित्र-चित्रण महानिशीथ, शतपदी आदि ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्रदर्शित आचार-पद्धति एक आदर्श त्याग वृत्ति और असिधारा सम अत्यन्त कठोर एक असाधारण निवृत्तिमय मार्ग है। इस मार्गमें सब प्रकारके दुःख, कठिनाइयाँ उपसर्ग एवं परिषह सहन करने पड़ते हैं। स्वयं भगवान् महावीर स्वामीने अत्यन्त उग्ररूपसे इसका परिपालन किया था। उसी आदर्श त्याग-वृत्तिकी जैन साधुओं द्वारा ही इस प्रकारकी दशा की जाती हुई देखकर आचार्य हरिभद्रसूरिको मार्मिक एवं हार्दिक वेदना हुई। आचार्यश्रीने विरोध होनेकी दशामेंभी इस स्थितिमें परिवर्तन लानेका सफल प्रयास किया और पुनः सुधार मार्गकी नींव डाली। इस दृष्टिसे हरिभद्रसूरिका साहित्यक्षेत्रमें जो स्थान है; वैसा ही गौरवपूर्ण स्थान आचार-क्षेत्रमें भी समझना चाहिये।

आचार्य हरिभद्रसूरि दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर स्वामीके श्रद्धालु और स्थिर चित्तवाले अनुयायी थे। यही कारण है कि अपने समयमें जैन आचारोंकी ऐसी दशा देखकर उन्हें हार्दिक मनोवेदना हुई। और उन्होंने अपने ज्ञानबल एवं चारित्रबल-द्वारा इस क्षेत्रमें पुनः दृढ़ता स्थापित की।

भगवान् महावीर स्वामीके उद्देश्यको पूर्ण करने, उन्नत करने और विकसित करनेमें साधु संस्थाका बहुत ऊँचा स्थान है। इसके महत्त्व और गौरवको भुलाया नहीं जा सकता है। जैन-धर्म, जैन समाज और जैन साहित्य आज भी जीवित है, इसका मूल कारण अधिकाँशमें यह साधु-संस्था ही है। इसकी पवित्रता और आरोग्यतामें ही जैन संस्कृतिका विकास संनिहित है। किन्तु आजकी साधु-संस्थामें भी पुनः अनेक रोग प्रविष्ट हो गये हैं। अतः पुनः ऐसे ही हरिभद्र समान एक महापुरुषकी आवश्यकता है; जोकि महावीर स्वामी के आचार क्षेत्रको फिरसे सुदृढ़, स्वस्थ, और आदर्श बना सके।

'संबोध-प्रकरण' में लिखित और अन्य-उद्धृत यह चारित्र-पतन तत्कालीन चैत्यवासी संप्रदायके साधुओं में पाया जाता था। यह संप्रदाय विक्रम संवत् ४१२ के आसपासमें उत्पन्न हुआ था; ऐसा धर्मसागर-कृत पट्टावलीसे ज्ञात होता है। चरित्र-नायकका काल विक्रम संवत् ७५७ से ८२७ तकका है, अतः मालूम होता है कि संवत् ४१२ से ७५७ तकके कालमें इस संप्रदायने अपने पैर बहुत मजबूत जमा लिये होंगे।

हरिभद्रसूरि चैत्यवासी संप्रदायके थे या अन्य संप्रदाय के, यह कह सकना कठिन है। किन्तु कोई २ इन्हें चैत्यवासी संप्रदायके ही मानते हैं। उस समयमें चैत्यवासी और वस्तिवासी ऐसे दो प्रबल दल उत्पन्न होगये थे। इन दोनोंके परस्परमें समाचारी विषयको लेकर काफी वाद-विवाद, वाग्कलह एवं संघर्ष चलता था, और इस प्रकार ये दो विरोधी दल होगये थे—ऐसा ज्ञात होता है। अंतमें चैत्यवासी संप्रदाय विक्रम सं० १००० के आसपास समाप्त होगया और खरतर गच्छके संस्थापक श्रीजिनेश्वरसूरिने अपने अनुयायियोंके लिये वि० सं० १०८० में वस्तिवास स्थिर किया। ❀

इस परिस्थितिके सिंहावलोकनसे हरिभद्रसूरिका काल जैन साहित्य, जैन संस्कृति और जैन आचार क्षेत्रमें एक संक्रान्ति काल कहा जा सकता है। अतः हरिभद्रसूरिका आविर्भाव जैन-इतिहासमें अत्यन्त महत्त्वका स्थान रखता है। इसलिये यदि इन्हें "कलिकाल-सुधर्मा" कहा जाय तो यह युक्ति-संगत प्रतीत होगा। यही संक्षेपमें आचार्यश्रीके पूर्वकालीन और तत्कालीन साहित्यिक एवं आचार विषयक स्थितिकी स्थूल रूप रेखा है। अब आगे इनकी जीवनी और तत्मीमांसा, साहित्य-रचना और तत्प्रभाव एवं निबन्ध से संबंधित अन्य अंगोंके संबंधमें लिखनेका प्रयास करूँगा।

❀ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर संप्रदायमें विक्रमकी १५ वीं शताब्दिके आसपास या इसके कुछ पूर्व पुनः साधु संस्थामें चैत्यवासी जैसी स्थिति पैदा होगई होगी; इसीलिये आचारकी दृढ़ताके लिये धर्मप्राण लोकाशाहने पुनः वस्तिवासी अपर नाम स्थानकवासी संप्रदायकी नींव डाली है।—लेखक।

'वीरशासनांक' पर कुछ सम्मतियाँ

(६) श्री बालमुकन्दजी पाटौदी 'जिज्ञासु,'

किशनगंज कोटा—

"अनेकान्तका विशेषांक मुझे मिल गया है। उसके गूढ साहित्य, गहरे अन्वेषण व पूर्णविचारसे लिखे गये लेखोंकी प्रशंसामें कुछ लिखनेके लिये मैं स्वयं अयोग्य हूँ—लिखनेकी शक्ति नहीं रखता। मैं इसे भले ही पूर्ण रूपेण न समझ पाऊँ परन्तु पढ़ता मैं उसे बड़े ध्यानसे और बड़ी शान्तिसे हूँ। मैं उसे एकाग्र मनसे एकान्तमें पढ़कर बड़ा ही आनन्द लाभ करता हूँ। और हृदयसे मैं उसकी उन्नति चाहता हूँ और चाहता हूँ उसके सदैव निरन्तराय दर्शन।

जैन लक्षणावली लिखनेका आपका अनुष्ठान बहुत ही प्रशंसनीय है और ऐसे ग्रन्थकारोंकी जैन संसार व जैनेतर संसारको बहुत बड़ी आवश्यकता है। यह ग्रन्थ जैन संसारके रत्नकी उपमा धारणकरने वाला होगा। इससे लोगोंकी बहुत बड़ी ज्ञानवृद्धि होगी।"

"श्रीमान्की 'मीनसंवाद' नामक कविता बड़ी ही हृदयस्पर्शी है उसका यह वाक्य "गूंजी ध्वनी अंबरलोकमें यों, हा! वीरका धर्म नहीं रहा है!!" तो बड़ा ही हृदयमें चुभ जानेवाला और घुलजानेवाला है।"

जैनसमाजके लिये अनुकरणीय आदर्श

[ले०—श्री अगरचन्द नाहटा, सम्पादक 'राजस्थानी']

संसारके सारे समाज द्रुतगतिसे आगे बढ़ रहे हैं, नवीन नवीन आदर्शोंका अवलम्बन कर उन्नति लाभ कर रहे हैं और एक-दूसरेसे प्रतिस्पर्धा करते हुए घुड़दौड़-सी लगा रहे हैं, पर हमारे जैनसमाजको ही न मालूम किस कालराहुने ग्रसित किया है कि उसकी आभा इस प्रगति-शील युगमें भी तिमिराच्छन्न है। उसकी कुम्भकर्णी निद्रा अब भी ज्योंकी त्यों बनी हुई है। विश्वमें कहाँ कैसी उन्नति हो रही है, इसके जानने-विचारने की हमें तनिक भी पर्वाह नहीं है। विश्व चाहे कहीं भी जाय हम तो अपने वर्त्तमान स्थानको नहीं छोड़ेंगे, ऐसा दुराग्रह प्रतीत हो रहा है। कई युवक धीरे धीरे पुकार कर रहे हैं, कुछ होहल्ला मचा रहे हैं, पर समाजके कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। युवकोंको पद-पद पर विघ्न बाधाएँ उपस्थित हैं, आए दिन तिरस्कारकी बोछारें उनके धधकते हृदयकी ज्वालाको शान्त कर रही हैं। वे अपनी हार मान कर मन मसोस कर बैठ जाते हैं! कोई नवीन आदर्श उपस्थित किया जाता है तो स्थान-स्थान पर उसका विरोध होता है, उस पर गम्भीर विचार नहीं किया जाता; तब आप ही कहिये उन्नतिकी आशा क्या निराशा नहीं है?

जो व्यक्ति या समाज विश्वमें जीवित रहना चाहता है उसके लिये आवश्यक है कि तत्कालीन परिस्थितिका भलीभाँति अनुभवकर यथोचित मार्ग ग्रहण करें। जिन पुराने विचारोंसे अब काम नहीं चलता है उन्हें परित्याग कर नवीन मार्गग्रहण करें क्योंकि सभी काम परिस्थितिके आधीन होते हैं। परिस्थितिका मुक़ाबला करने वाले व्यक्ति हैं कितने? आज नहीं कल उन्हें अन्ततः उसी मार्ग पर आना पड़ेगा जिसे परिस्थिति प्रतिसमय बलवान बना रही है। जो संसारकी गतिविधिकी ओरसे सर्वथा उदासीन रहकर उसकी उपेक्षा या तिरस्कार करेंगे वे पीछे रह जायंगे, और फिर पछतानेसे होना भी कुछ नहीं। क्योंकि घुड़सवार व्यक्तिको पैदल कभी नहीं पहुँच सकता। इसीलिये जैनधर्ममें 'अनेकान्त' को मुख्य स्थान दिया गया है—कहा गया है कि अपना दृष्टिकोण विशाल रखो, विरोधीके विचारोंको पचानेकी शक्ति संचय करो, देश-कालके अनुसार अपना मार्ग निश्चित करो। पर हमें धर्मके बाहरी साधन ही ऐसी भूल-भुलैयामें डाल रहे हैं कि तत्वके आंतरिक रहस्य तक पहुँचने ही नहीं देते। स्वयं नया मार्ग निर्धारण या उपयोगी आदर्श उपस्थित करनेकी शक्ति-सामर्थ्य हममें कहाँ? दूसरेके उपस्थित किये हुए आदर्शोंका भी अनुसरण नहीं करते। न मालूम वह सुदिन हमारे लिये कब आवेगा जब हम अग्रगामी बनकर विश्वके सामने नवीन आदर्श

स्थापन करेंगे। इस लेखमें अन्य व्यक्तियों द्वारा उपस्थित किये हुए दो नवीन आदर्शोंकी ओर जैन-समाजका ध्यान आकर्षित करता हूँ। आशा है समाजके नेता एवं विद्वान्गण उनपर गंभीर विचार करेंगे।

गत वर्ष इधर कलकत्ता आते समय रास्तेमें आगरे ठहरा था तो वहाँकी 'दयालबाग' नामक संस्थाके आदर्शको देखकर दंग रह गया! इतने थोड़े वर्षोंमें इतनी महती उन्नति सचमुच आश्चर्य-जनक है! मनुष्य जीवनको सुखप्रद बनाने एवं बितानेकी जो सुव्यवस्था वहाँ नज़र आई वह भारतके सभी समाजोंके लिये अनुकरणीय बोध पाठ है। जीवनोपयोगी प्रायः सभी वस्तुएँ वहाँ प्रस्तुत की जाती हैं, और उस संस्थामें रहने वाले सभी लोगोंको उन्हींका व्यवहार करना आवश्यक माना गया है। बड़े-बड़े बुद्धिशाली इन्जिनियर आदि कम वेतनमें संस्थाको अपनी समझ कर कर्त्तव्यके नाते सेवा कर रहे हैं। उनकी पवित्र सेवा एवं लगनका ही यह सुफल है कि थोड़े ही वर्षोंमें करोड़ों रुपयोंकी सम्पति वहाँ हो गई है और दिनोदिन संस्थाका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत हो रहा है। संस्थामें काम करने वाले सभी सुशिक्षित हैं, शिक्षाका प्रबन्ध भी बहुत अच्छा है। एक-दूसरेमें बहुत प्रेम है और सभी व्यक्ति स्वस्थ एवं सुखी दिखाई देते हैं।

धार्मिक संस्कारोंके सुदृढ़ बनानेके लिये संस्था में रहने वाले सभी व्यक्ति सुबह शाम नियत समय एकत्र होकर प्रार्थना, व्याख्यान श्रवण ज्ञान-गोष्ठी करते हैं। लाखों रुपयोंकी लागतका एक नया मन्दिर बन रहा है। यद्यपि मैंने इस संस्थाका केवल दो ही घंटेमें अवलोकन किया था अतः उसके पूरे विवरणसे मैं अज्ञात हूँ, फिर भी थोड़े समयमें जो कुछ देखा उससे वह संस्था एक आदर्श संस्था प्रतीत हुई। जैन समाजकी स्तुतिके इच्छुक व्यक्तियोंको यहांसे कुछ बोध ग्रहण करना चाहिये।

इसी प्रकार एक बार आते समय दिल्लीमें एक आदर्श मन्दिरको देखनेका सुअवसर मिला, उसका नाम है 'बिड़ला मंदिर।' परवार बन्धुके सुयोग्य सम्पादक श्रीयुत् धन्यकुमारजी जैन भी साथ थे। निःसन्देह यह एक दर्शनीय देवस्थान है। भारतवर्षमें यह अपने ढंगका एक ही है। इस मंदिरसे सर्व-धर्मसम-भावका सुन्दर आदर्श-पाठ मिलता है। यद्यपि मुख्य रूपसे यह मंदिर बिड़ला जी के उपास्य श्री लक्ष्मीनारायणजीका है, पर वैसे सभी प्रसिद्ध धर्मोंके उपास्यदेवों-महापुरुषोंकी-मूर्तियाँ एवं चित्र इसमें अंकित हैं, स्थान स्थान पर प्रसिद्ध महापुरुषोंके उपदेश वाक्य चुन चुन कर उत्कीर्ण किये गये हैं, जिससे प्रत्येक दर्शन वाले निसंकोचसे वहां दर्शनार्थ जा सकते हैं और सब एक साथ एक ही मंदिरमें बैठकर अपने अपने उपास्य देवोंकी उपासना कर सकते हैं। कहां सर्व-धर्मसम-भावका इतना ऊँचा आदर्श और कहां हमारा जैन समाज, जो दिगम्बर श्वेताम्बर मूर्तियों एवं तीर्थोंके लिये लाखों रुपये व्यर्थ बरबाद कर रहा है। इस आदर्शका अनुसरणकर यदि हमारा जैन समाज थोड़ा-सा उदार होकर अपनी साम्प्रदायिक कट्टरताको कम करदे तो आज ही समाज उन्नतिकी ओर अग्रसर होने लगे। लाखों रुपयोंका व्यर्थ खर्च बच जाय और वे रुपये दयालबाग-जैसी संस्थाके स्थापनमें, जैन-

धर्मके प्रचारमें, नवीन जैन बनाने में लगाये जाएँ तो कोई कारण नहीं कि हम विश्वमें गौरव प्राप्त नहीं कर सकें।

देहलीसे बनारस आने पर वहांके भेलुपुरेके जैन मन्दिरको देखकर प्रथम मुझे आनन्द एवं आश्चर्य हुआ कि वहां श्वेताम्बर जैन मंदिरमें श्वेताम्बर मूर्तियोंके साथ साथ कई दिगम्बर मूर्तियां भी स्थापित हैं। पर पीछेसे मालूम हुआ कि उसीके पासमें दिगम्बर भाइयोंका एक और मंदिर है जिसमें बहु संख्यक मूर्तियां हैं। यदि हमारे मंदिरोंमें दोनों सम्प्रदायोंकी मूर्तियाँ पासमें रखी रहें और हम अपनी अपनी मान्यतानुसार बिना एक दूसरेका विरोध किये समभाव पूर्वक पूजा करते रहें तो जो अनुपम आनन्द प्राप्त हो सकता है यह तो अनुभवकी ही वस्तु है। ऐसा होने पर हम एक दूसरेसे बहुत कुछ मिल-जुल सकते हैं। आपसी विरोध कम हो सकता है, एक दूसरेके विधि-विधानसे अभिज्ञ होकर जिस सम्प्रदायकी विधिविधानमें जो अनुकरणीय तत्व नज़र आवे अपने में ग्रहण कर सकते हैं। एक दूसरेके विद्वान् आदि विशिष्ट व्यक्तियोंसे सहज परिचित हो सकते हैं। दोनों मंदिरोंके लिये अलग अलग जगहका मूल्य मकान बनानेके खर्च, नौकर, पूजारी, मुनीम रखने आदिका सारा खर्च आधा हो जाय। अतः आर्थिक दृष्टिसे यह योजना बहुत उपयोगी एवं लाभप्रदहै। पर हमारा समाज अभी तक इसके योग्य नहीं बना, एक दूसरेके विचारोंको हीन क्रियाकाण्डोंको अयुक्त और सिद्धान्तोंको सर्वथा भिन्न मान रहे हैं, इधर-उधरसे जो कुछ साधारण मान्यता-भेद सुन रखे हैं उन्हींको बहुत महत्व देकर दिनोंदिन हम अधिकाधिक कट्टरता धारण कर रहे हैं। साधारणतया यही धारणा हो रही है कि उनसे हमारा मिलान-मेल हो ही नहीं सकता, उनकी धारणा सदा भ्रान्त है, पर वास्तवमें वैसी कुछ बात है नहीं, यह मैंने अपने "दिगम्बर श्वेताम्बर मान्यता-भेद शीर्षक लेखमें जो कि 'अनेकान्तके' वर्ष २ अंक १० में प्रकाशित हुआ है, बतलाया है। हमारी वर्तमान विचारधाराको देखते हुए उपर्युक्त योजना केवल कल्पना-स्वप्नसी एवं असम्भवसी प्रतीत होती है, संभव है मेरे इन विचारोंका लोग विरोध भी कर बैठें, पर वे यह निश्चयसे स्मरण रखें कि बिना परस्परके संगठन एवं सहयोगके कभी उन्नति नहीं होनेकी।

श्वेताम्बर एक अच्छा काम करेंगे तो दिगम्बर उससे असहिष्णु होकर उसकी असफलताका प्रयत्न करेंगे। दिगम्बर जहां प्रचार कार्य करना प्रारम्भ करेंगे श्वेताम्बर वहां पहुँच कर मतभेद डाल देंगे। तब कोई नया जैन कैसे बन सकता है? अन्य समाजमें कैसे विजय मिल सकती है? अर्थात् हमारा कोई भी इच्छित कार्य पूर्ण रूपसे सफल नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ दिगम्बर महावीर जयंतीकी छुट्टीके लिये या अन्य किसी उत्तम कार्यके लिये आगे बढ़ेंगे तो श्वेताम्बर समझेंगे कि हम यदि सहयोग देंगे और कार्य सफल हो जायगा तो यश उन्हें मिल जायगा अतः हम अपनी तूती अलग ही बजावें, तब कहिये सफलता मिलेगी कैसे? सर्वप्रथम यह परमावश्यक है कि जो आदर्श कार्य हम दोनों समाजोंके लिये लाभप्रद है कमसे कम उसमें तो एक दूसरेको पूर्ण सहयोग दें। महावीर जयंती आदिके उत्सव एक साथ

मनावें तो उनकी शोभा द्विगुणित हो जाती है और आपसमें श्रेय एवं जानकारी बढ़ती है।

मंदिरोंकी उपर्युक्त योजनाको अभी अलग भी रखदें तो अन्य कई ऐसे कार्य हैं जो दोनों समाजें यदि थोड़ीसी उदारतासे काम लें तो लाखों रुपये बच सकते हैं। जैसे दि० श्वे० शिक्षा संस्थाओंको एक कर दिया जाय तो बहुतसा व्यर्थ खर्च बचता है। एक कलकत्तेमें ही देखिये, केवल श्वेताम्बर समाजके तीनों सम्प्रदायोंकी तीन भिन्न २ शिक्षा संस्थाएँ हैं जिनको एक कर लेनेपर आधेसे भी कम खर्चमें ठोस कार्य हो सकता है। जो जो संस्थाएँ द्रव्याभावसे आगे नहीं बढ़ सकतीं वे उस बचे हुए खर्चसे सहज ही उन्नति कर सकती हैं। इसी प्रकार कॉन्फ्रेंस, परिषद् आदि अलग अलग होते हैं उनमें हजारों रुपयोंका व्यय प्रतिवर्ष होता है उन संगठन सभाओंका परस्परमें सहयोग नहीं होनेके कारण प्रस्ताव भी कोरे 'पोथीके बेंगण' की भाँति कागजी घोड़े रह जाते हैं। अन्यथा एक ही जैनकॉन्फ्रेंस हो तो हजारों रुपयोंका खर्च भी बच जाय और काम भी अच्छा हो, पर हमारे समाज की दशा अभी "निर्नायकं हतं सैन्यं" की हो रही है! कौन किसकी सुनता है? सब अपनी अपनी डफलीमें अलग अलग राग आलापते हैं। श्वेताम्बर दिगम्बर संस्थाएँ अभी एक न हो सकें तो कमसे कम श्वेताम्बर समाजके तीन मुख्य सम्प्रदाय तथा अन्य पार्टी बंदियाँ एक होनेको कटिबद्ध होजाँय और इसी प्रकार दि० समाजकी संस्थाएँ भी, तो कितना ठोस कार्य हो सकता है। अनेकांत के उपासक क्या आपसी साधारण मत भेदोंको नहीं पचा सकते? अनेकान्त तो वह उदार सिद्धान्त है जहाँ वैर-विरोधको तनिक भी स्थान नहीं। विशालदृष्टि-द्वारा वस्तुके भिन्न भिन्न दृष्टिकोणोंको उनकी अपेक्षासे समभावपूर्वक देख सकना, सभी की संगति बैठा लेना ही तो 'अनेकान्त' है। पर हमने उसके समझनेमें पूर्णतया विचार नहीं किया, इसीसे हमारी यह उपहास्य दशा हो रही है। आशा है समाज-हितैषी सज्जनगण मेरे इन विचारोंपर गम्भीरतासे विचार करेंगे। शासनदेव दोनों सम्प्रदायोंको सद्बुद्धि दें, यही कामना है।

'वीरशासनाङ्क' पर सम्मति

(७) प्रो० जगदीशचन्द्रजी एम० ए० रुइया कालिज बम्बई—

'वीर शासनाङ्क मिला। कुछ लेख पढ़े, लेख संग्रह ठीक है। जैन समाजके लिए ऐसे पत्रकी बड़ी आवश्यकता थी। हर्ष है कि आप इस आवश्यकताको पूर्ण करनेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। ·····जैन

गोम्मटसार एक संग्रह ग्रन्थ है

[लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

दिगम्बर जैन-सम्प्रदायके ग्रन्थकर्ता आचार्योंमें आचार्य नेमिचन्द्र अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आप अपने समयके विक्रमकी ११वीं शताब्दीके एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार हो गये हैं, और धवल, महाधवल तथा जयधवल नामके महान् सिद्धान्त ग्रन्थोंमें निष्णात थे। इसीसे 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' कहलाते थे। गंगवंशीय राजा राचमल्लके प्रधान सेनापति समरकेशरी वीर मार्तण्ड आदि अनेक उपाधियोंसे विभूषित राजा चामुण्डरायके आप विद्यागुरु थे। आपने उक्त तीनों सिद्धान्त ग्रन्थोंका और अपने समयमें उपलब्ध अन्य कर्म साहित्यका दोहन करके जो गोम्मटसार रूप नवनीत निकाला है वह बड़े ही महत्वका है और श्वेताम्बर सम्प्रदायके उपलब्ध कर्म ग्रन्थोंसे बहुत कुछ विशेषता रखता है। इस गोम्मटसारके पठन-पाठनकी दि० जैनसमाजमें विशेष प्रवृत्ति है। आपने गोम्मटसार (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड) के सिवाय, त्रिलोकसार, लब्धिसारकी भी रचना की है और 'कर्म प्रकृति' नामका एक ग्रन्थ भी इन्हींका बनाया हुआ कहा जाता है, परन्तु वह अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आया।

आचार्य नेमिचन्द्रनेगोम्मटसारके जीवनकाण्ड और कर्मकाण्ड नामक दोनों खण्डोंमें षटखण्डागम-सम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबंध, बंध स्वामित्व, वेदना और वर्गणा इन पांच विषयोंका संग्रह किया है। इसी कारण गोम्मटसारका दूसरा नाम 'पंचसंग्रह' प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। गोम्मटसारके जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड रूप दोनों भागोंका संकलन करनेमें जिन ग्रन्थोंका उपयोग किया गया है यद्यपि वे सभी मेरे सामने नहीं हैं, परन्तु उनमें से जो ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं, उनके तुलनात्मक अध्ययनसे मालूम होता है कि उक्त काण्डों की रचनामें उन धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंके सिवाय, 'प्राकृत पंचसंग्रह' से भी विशेष सहायता ली गई है। इसके अतिरिक्त कर्मविषयक वह साहित्य भी संभवतः आचार्य नेमिचन्दके सामने रहा होगा जिस परसे आचार्य पूज्यपादने अपनी 'सर्वार्थसिद्धि'में कर्मसाहित्यसे सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी कुछ गाथाएँ 'उक्तंच' रूपसे या बिना किसी संकेतके उद्धृतकी हैं। क्योंकि आचार्य पूज्यपाद द्वारा उधृत गाथाओंमेंसे कुछ गाथाएँ आचार्य नेमिचन्द्रने भी अपने ग्रन्थोमें संकलित की हैं, और अवशिष्ट गाथाएँ उपलब्ध दि० कर्मसाहित्यमें कहीं पर भी नहीं पाई जाती हैं। इससे किसी ऐसे ग्रंथका अनुमान होना स्वाभाविक है जिसपरसे ये गाथाएँ पूज्यपाद और नेमिचन्द्रने उद्धृत की हैं। और यह भी संभव है कि आचार्य नेमिचन्द्रने पूज्यपादके ग्रंथपरसे ही उन्हें लेलिया हो।

गोम्मटसारका गम्भीर अध्ययन करने और दूसरे प्राचीन ग्रंथोंके साथ तुलना करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गोम्मटसारकी रचना करनेमें उन प्राचीन ग्रंथों परसे विशेष अनुकरण किया गया है। यहाँ तक कि उनके पद्योंको ज्योंका त्यों अथवा कुछ पाठ-भेदके साथ अपने ग्रन्थमें शामिल किया गया है। इसीलिये गोम्मटसार ग्रन्थ आचार्य नेमिचन्द्रकी बिल्कुल ही स्वतन्त्रकृति

मालूम नहीं होता किन्तु यह एक संग्रह ग्रन्थ है,जिसका उक्त आचार्यने चामुण्डरायके निमित्त संकलन किया था। गोम्मटसारके संकलित होनेके बाद इसके पठन-पाठनका जैनसमाजमें विशेष प्रचार होगया और वह यहाँ तक बढ़ा कि गोम्मटसारको ही सबसे पुराना कर्म ग्रन्थ समझा जाने लगा। किन्तु जिन महा बन्धादि प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थोंके आधारपर इसकी रचना हुई थी उनके पठन पाठनादिका बिल्कुल प्रचार बन्द हो गया और नतीजा यह हुआ कि वे धवलादि महान् सिद्धान्त ग्रन्थ केवल नमस्कार करनेकी चीज़ रह गये। इसी कारण इसे ही विशेष आदर प्राप्त हुआ और उन सिद्धान्तग्रन्थोंकी प्राप्तिके अभावमें इन्हें ही मूल सिद्धान्त ग्रन्थ समझा जाने लगा। इसी ग्रन्थके कारण आचार्य नेमिचन्द्रकी अधिक ख्याति हुई और उनका यह संकलन जैन समाजके लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ। अस्तु, गोम्मटसारकी रचनाके आधारके विषयमें कुछ विचार करना ही इस लेखका मुख्य विषय है। अतः सबसे पहले उसके जीव काँडके विषयमें कुछ विचार किया जाता है।

गोम्मटसारके जीवकाण्डमें जीवोंकी अशुद्ध अवस्थाका वर्णन किया गया है। गाथाओंकी कुल संख्या ७३३ दी है। ग्रंथके शुरुमें मंगलाचरणके बाद बीस अधिकारोंके कथनकी प्रतिज्ञा की गई है, और उन बीस अधिकारोंका—जिनमें १४ मार्गणाएं भी शामिल हैं—ग्रन्थमें विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। साथ ही अंतर्भावाधिकार और आलापाधिकार नामके दो अधिकार और भी दिये गये हैं जिससे कुल अधिकारोंकी संख्या २२ हो गई है जिनमें गाथाओंका और उनके प्रतिपाद्य विषयका स्पष्टीकरण, विवेचन एवं संग्रह बहुत ही अच्छे ढंगसे किया गया है। इसीलिये इसकी रचना सुसम्बद्ध जान पड़ती है और अपने विषयको पूर्णतया स्पष्ट करती है। ग्रन्थमें प्रतिपादित विषयोंके लक्षण बहुत अच्छी तरह संकलित किये गये हैं जिनके कारण यह ग्रन्थ सभी जिज्ञासुओंके लिये बहुत उपयोगी होगया है। यद्यपि श्वेताम्बरीय प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रंथमें भी इसी विषयका संक्षिप्त वर्णन दिया हुआ है परन्तु उसमें जीवकाण्ड जैसा स्पष्ट एवं विस्तृत कथन नहीं और न उसमें इस तरहके सुसम्बद्ध लक्षणोंका ही समावेश पाया जाता है। इसी लिये प्रज्ञाचक्षु पं०सुखलालजीने अपनी चतुर्थकर्म ग्रंथकी प्रस्तावनामें जीवकाण्डको देखनेकी विशेष प्रेरणा की है। अस्तु।

पंचसंग्रह और जीवकाण्ड

प्राकृत पंच संग्रहके 'जीवप्ररूपणा' नामके प्रथम अधिकारकी २०६ गाथाओंमेंसे गोम्मटसार-जीवकाण्डमें १२७ गाथाएँ पाई जाती हैं। ये गाथाएँ प्रायः वे हैं जिनमें प्राण, पर्याप्ति आदिके विषयोंके लक्षण दिये गये हैं। इन १२७ गाथाओंमेंसे १०० गाथाएँ तो वे ही हैं जिन्हें धवलामें आचार्य वीरसेनने उक्तं च रूपसे दिया है और जिनका अनेकान्तकी गत तृतीय किरणमें 'अतिप्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह' शीर्षकके नीचे परिचय दिया जा चुका है। शेष २७ गाथाएँ और उपलब्ध होती हैं। अतः ये सब गाथाएँ आचार्य नेमिचन्द्रकी बनाई हुई नहीं कही जा सकतीं। क्योंकि पंचसंग्रह गोम्मटसारसे बहुत पहलेकी रचना है। मालूम होता है कि आचार्य नेमिचन्द्रके सामने 'प्राकृत पंचसंग्रह' ज़रूर था और उसी परसे उन्होंने जीवकाण्डमें ये १२७ गाथाएँ उद्धृत की हैं। पंचसंग्रहकी जो गाथाएँ जीवकाण्डमें बिना किसी पाठभेदके या थोड़ेसे साधारण शब्द परिवर्तनके साथ पाई जाती हैं उनमेंसे नमूनेके

तौर पर दो गाथाएँ नीचे दी जाती हैं:—

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥

—प्रा० पंच सं० १,११

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥

—गो० जी०, २६

णट्ठा सेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुव समओ य खवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो॥

—प्रा० पंच सं०, १,१६

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुव समओ अ खवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो॥

—गो० जी०, ४६

इन दो गाथाओंके सिवाय, प्राकृत पंचसंग्रहकी गाथाएँ नं० २, ३, ४, ६, ८, ६, १०, १२, १४, १५, १७, १८, १६, २०, २१, २३, २५, २७, २६, ३०, ३१, ३२, ३४, ४४, ४६, ४८, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ६०, ६३, ६४, ७४, ७६, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६५, ६७, १००, १०५, १०६, १०८, १०६, ११६, ११७, २१८, ११६, १२०, १२२, १२३, १२६, १२७, १२६, १३०, १३१, १३३, १३५, १३६, १३७, १३८, १३६, १४०, १४१, १४२, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४६, १५०, १५१ १५२, १५३, १५४, १५६, १५७, १५६, १६०, १६१, १६६, १७०, १७३, १७४, १७६, १७७, १७८, १७६, १८०, १८५, १६६, २०१, गोम्मटसार जीवकाण्डमें क्रमशः गाथा नं० २, ८, ६, १७, १८, २०, २२, २७, २७, ३३, ३४, ५१, ५२, ५४, ५६, ५७, ५८, ६२, ६३, ६४, ६५, ६८, ७०, ७०, ७२, ११८, १२६, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १४०, १४१, १४६, १५०, १५१, १६३, १७३, २०१, १८५, १६१, १६२, १६५, १६६, १६७, २०२, २१७, २१८; २१६, २२०, २२६, २३१, २३८, २४२, २७३, २७२, २७४, २८१, २८८, २६८, ३०२, ३०३, ३०४, ३१४, ३६६, ४५६, ४६४, ४६६, ४७०, ४७१, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४८१, ४८३, ४८४, ४८५, ४८८, ५०८, ५०६, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५५५, ५५७, ५५६, ५५८, ५६०, ६०४५, ६४६, ६५४, ६५५, ६६०, ६६१, ६६४, ६६५, ६७१, ६७३, ६७४, ६२८, ६६६, ६५२ पर पाई जाती हैं।

प्राकृत पंचसंग्रहकी उपर्युक्त नम्बर वाली गाथाओंके अतिरिक्त जिन गाथाओंका जीवकाण्डमें थोड़ा-सा पाठ-भेद पाया जाता है उनमेंसे नमूनेके तौर पर दो गाथाएँ नीचे दी जाती है:—

जो तस वहाउ विरदो णोविरओ अक्खथावर वहाओ।
पडिसमयं सो जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई॥

—प्रा० पंच सं०, १,१३

जो तस वहाउ विरदो अविरदओ तहय थावर वहादो।
एक्क समयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई॥

—गो० जी० ३१

मन्नंति जदो णिच्चं मणेण निउणा जदो हु जे जीवा।
मणउक्कडाय जम्हा तम्हा ते माणुसा भणिया॥

—प्रा०पंचसं०, १,६२

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण निउणा मणुक्कडा जम्हा।
मणुउभवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिदा॥

—गो० जी० १४८

इन दो गाथाओंके अलावा पंच संग्रहकी गथाएं नं० ५, २४, ४३, ४५, ६१,६४, ६६, ६८,६६, १०७, १२५, १६६, १८८, १८६ भी ऐसी ही हैं जो जीवकाँड

में क्रमशः नं० १०, ६१, ११७, १२८, १४७, २३०, २३३, २३६, २४०, २७४, ४३७, ६४६. ५३३, ५३४ पर थोड़ेसे पाठ-भेदके साथ उपलब्ध होती हैं।

इनके सिवाय, एक गाथा जीवकाण्डमें पंचसंग्रह की ऐसी भी पाई जाती है जो अधिक पाठ-भेदको लिये हुए है—उसका पूर्वार्ध तो मिलता है परन्तु उत्तरार्ध नहीं मिलता। वह बदला हुआ है। किन्तु धवलाके मुद्रित अंशमें वह पंचसंग्रहके अनुसार ही उपलब्ध होती है। वह इस प्रकार है:—

अहिमुहनियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदइंदियजं।
बहु उग्गहाइणाखलु कयछत्तीसा-ति-सय-भेयं॥

—प्रा० पंचसं०, १,१२१

अहिमुहणिय णियबोहण माभिणि बोहियमणिंदइंदियजम्
अवगहईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं॥

—गो० जी०, ३०५

मूलाचार और जीवकाण्ड

मूलाचार दि० जैन समाजका एक मान्य ग्रन्थ है। इसके विषयमें, मैं एक लेख 'अनेकान्त' की द्वितीय वर्षकी किरण नं० ५ में लिख चुका हूँ। इसी से यहाँ उसके विषयमें अधिक कुछ नहीं लिखा जाता। उसकी कुछ गाथाएँ भी गोम्मटसार जीवकाण्डमें प्रायः ज्योंकी त्यों रूपसे उपलब्ध होती हैं। अर्थात् मूलाचारकी गाथाएँ नं० २२१, २२३, २२६, ३२८, ३१५, ३१६, १०३४, १०३५, १०३६, १०३७, १०३८, १०३६, १०४०, ११०२, ११०३, ११४८,११५१ गोम्मटसार जीवकाण्डमें क्रमशः नं० ११३, ११४, ८६, २२१, २२४, २२५, २५, ३६, ३७, ३८, ४०, ४१ ४२, ८१, ८२, ४२६, ४२६, पर पाई जाती हैं।

पंचसंग्रह और कर्मकाण्ड

गोम्मटसार कर्मकाण्ड, कर्म विषयक साहित्यका एक अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें बंध, उदय, उदीरणा और कर्मोंकी सत्ताका बहुत ही अच्छे तरीके पर वर्णन दिया गया है। साथ ही, कर्म क्या है, उनके कितने भेद हैं और उनका जीवके साथ कैसा संबंध होता है। किस जीवके कितनी प्रकृतियोंका बंध और उदयादि होते हैं। इन सबका विवेचन इसमें किया गया है। ग्रंथमें ६ अधिकार दिये हैं और मय प्रशस्तिके गाथाओंकी कुल संख्या ६७२ दी है। जब तक मेरे देखनेमें 'प्राकृत पंचसंग्रह' नहीं आया था उस समय तक मेरा यह खयाल था कि कर्म प्रकृतियोंका इस प्रकारका बटवारा कर देनेवाला कोई अन्य प्राचीन कर्म ग्रन्थ भी आचार्य नेमिचन्द्रके सामने रहा होगा, जिसपरसे उन्होंने संक्षिप्तरूपसे गोम्मटसार कर्मकाँडका संकलन किया है। यद्यपि पंचसंग्रहका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे मालूम होता है कि कर्मकाँडकी रचनामें कुछ क्लिष्टता आगई है। परंतु प्राकृत पंचसंग्रहमें वह सरलता बनी हुई है, इसलिये उसके द्वारा अर्थ-बोध करनेमें कोई कठिनाई मालूम नहीं होती। दूसरी विशेषता उसमें यह भी है कि जिस बातको पंचसंग्रहकार गाथाबद्ध करनेमें कठिनाई समझते थे या उससे अर्थ बोध होनेमें कुछ क्लिष्टताका अनुभव करते थे उसे उन्होंने प्राकृत गद्यमें दे दिया है और साथमें अङ्क संदृष्टि भी दे दी है, जिससे जिज्ञासुओंको उसके समझनेमें बहुत कुछ आसानी होगई है। फिर भी गोम्मटसार कर्मकाण्डमें कितना ही वर्णन पंचसंग्रह से भिन्न पाया जाता है। उदाहरणके लिये इंगिनी और प्रायोपगमन सन्यास आदिका वर्णन तथा कर्मोंका नोकर्मवाला कथन पंचसंग्रहमें नहीं है। इसी तरह कदलीघात या अकाल मरणके कारणोंको सूचित करनेवाली

गाथा भी उसमें नहीं है *। इसके सिवाय, ८७६ नं० की गाथामें ३६३ मतोंका-क्रियावादी और अक्रियावादी आदि केभेदोंका—और उसके बाद उनका संक्षिप्त स्वरूप १३ गाथाओंमें दिया है, उसके अनन्तर दैववाद, संयोग-वाद और लोकवादका संक्षिप्त स्वरूप देकर उनका मिथ्यापना बताया है। साथ ही, उक्त मतोंके विवाद मेटनेका तरीक़ा बताकर उक्त प्रकरणको समाप्त किया है। यह सब कथन प्राकृत पंचसंग्रहमें नहीं है। इससे मालूम होता है कि ये सब कथन आचार्य नेमिचन्द्रने दूसरे ग्रन्थों परसे लेकर या सार खींचकर रक्खे हैं।

परन्तु गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी एक बात बहुत खटकती है और वह यह है कि गाथा नं० २२ में कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या तो बताई है परन्तु उन उत्तर प्रकृतियोंके स्वरूप और नाम आदिका क्रमशः कोई वर्णन नहीं किया गया है, जिसके किये जानेकी खास ज़रूरत थी। हाँ, २३, २४ और २५ नं० की गाथाओंमें दर्शनावरण कर्मकी नौ प्रकृतियोंमेंसे स्त्यान-गृद्धि, निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला और प्रचला-प्रचला इन पाँच प्रकृतियोंका स्वरूप ज़रूर दिया है—शेषका नहीं दिया। इस कमीको संस्कृत टीकाकारने पूरा किया है। परन्तु प्राकृत पंचसंग्रहके 'प्रकृति समुत्कीर्तन' नामक द्वितीय अधिकारमें मंगलाचरणके बाद, कर्म प्रकृतियोंके दो भेद बताकर पहले मूलप्रकृतियोंके नाम दिये हैं और फिर एक गाथामें उनके स्वभावको उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। इसके पश्चात् एक गाथामें उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या दी है और फिर प्राकृत गद्यमें उनके नाम, भेद और स्वरूपको दिया है। अतः गोम्मटसार कर्मकाण्डकी अपेक्षा 'प्राकृत पंचसंग्रह' कर्म-साहित्यके जिज्ञासुओंके लिये विशेष उपयोगी मालूम होता है।

गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी रचनापरसे एक बातका और भी पता चलता है और वह यह कि इसमें अधः-करण, अपूर्वकरणके लक्षणवाली गाथाएँ जो जीव-काण्डमें दी गई हैं, उन्हें कर्मकाण्डमें भी दुबारा मूल गाथाओंके साथ दिया गया है। इसके सिवाय, जो गाथाएँ कर्मकाण्डमें १५५ नं० से लगाकर १६२ तक दी हैं फिर उन्हीं गाथाओंको ६१४ नं० से लेकर ६२१ तक दिया है, जिससे ग्रंथमें पुनरुक्ति मालूम होती है। शायद लेखकोंकी कृपासे ऐसा हुआ हो। कुछ भी हो, परन्तु इस कर्मकाण्डके संकलन करनेमें 'प्राकृत पंच-संग्रह' से विशेष सहायता ली गई मालूम होती है। क्योंकि पंचसंग्रहकी कुछ गाथाएँ कर्मकाण्डमें भी ज्यों-की त्यों अथवा कुछ थोड़ेसे शब्द परिवर्तनके साथ उपलब्ध होती हैं। उनमेंसे दो गाथाएँ यहाँ नमूनेके तौर पर दी जाती हैं:—

पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं ।
जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा ॥

—प्रा० पंच सं० २, ३

पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं ।
जह एदेसिं भावा तह विकम्मा मुणेयव्वा ॥

—गो० क०, २१

पयडीए मंतराए उवघाए तप्पदोस णिण्हवणे ।
आवरणदुगं भूओ बंधइ अच्चासणा एए ॥

—प्रा० पंच सं०, ४, २००

* कदलीघात मरणके कारणोंका दिग्दर्शन कराने वाली दो गाथाएँ आचार्य कुन्दकुन्दके 'भावपाहुड' में २५, २६ नम्बर पर पाई जाती हैं। उनमेंसे गोम्मटसार कर्मकाण्डमें २५ नं० की गाथा संग्रहकी गई है। इस गाथाको आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीकामें भी 'उक्तं च' रूपसे दिया है और वह धवलाके मुद्रित अंशमें पृष्ठ २३ पर छपी है।

पडिणीग मंतराए उवघादो तप्पदोस णिण्हवणे।
आवरणदुगंभूयो बंधदि अच्चासणाएवि॥

—गो० क० ८००

इसी प्रकार पंचसंग्रहकी २, ४, ५, २६, ४७, ५०, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०६, २१०, २१७, २४०, २५१, ४१२, ४२३, ४२७, ४२८, ४२६, ४३०, ४४५, ४५४, ४५५, ४६३, ४८८, ४८६, ४६५, ४६७, ५०१, ५०२, ५०३, ५०५, ५०६, ५१३, ५३३, ५४७, ५५५, ७३६, नम्बरकी गाथाएँ गोम्मटसार कर्मकाण्डमें क्रमशः नं० २०, २२, ३५, २६४, २७६, २८१, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०६, ८१०, ४५५, १२२, ४६३, १३६, १५२, १५४, १३४, १३५, १३६, १७८, १६३, १६४, १६५, १८३, १८२, ४८, १८५, १६२, २०७, २०८, २०६, २११, २१५, २१०, ६३०, ४६३, ५०८, ७०५, नम्बर पर पाई जाती हैं।

इनके अतिरिक्त जिनगाथाओंमें कुछ पाठ-भेद पाया जाता है उन्हें नीचे दिया जाता है:—

णामस्स य बंधोदयसंताणिगुणं पडुच्च य विभजं।
तिगयोगे णय एत्थ दु भणियव्वं अत्थजुत्तीए॥

—प्रा० पंच सं० पत्र ५६

णामस्स य बंधोदय सत्ताणि गुणं पडुच्च उत्ताणि।
पत्तेया दो सव्वं भणिदव्वं अत्थजुत्तीए॥

—गो० क०, ६६५।

पणवण्णा पण्णासा तेयाल छयालसत्त तीसाय।
चउवीस दु बावीसा सोलस एऊण जावणवसत्ता॥

—प्रा० पंचसं० ३, ७८

पणवण्णा पण्णासा तिदाल छादाल सत्ततीसा य।
चदुवीसा बावीसा बावीसमपुव्वकरणोत्ति॥
थूले सोलसपहुदी एगूणं जावहोदि दसठाणं।
सुहुमादिसु दस णवयं णवयं जोगिम्मि सत्तेव॥

—गो० क० ७८६, ७६०

अट्ठत्तीससहस्सा बे चेव सयाहवंति सगतीसा।
पदसंखा णायव्वा लेस्सं पडि मोहणीयस्स॥

—प्रा० पंचसं०पत्र, ५५

अट्ठत्तीससहस्सा बेण्णिसया होंति सत्ततीसा य।
पयडीणं परिमाणं लेस्सं पडि मोहणीयस्स॥

—गो० क०, ५०५

इनके अलावा पंचसंग्रहके पत्र ५७ और ६१ की दो गाथाएँ और भी गोम्मटसारमें ७१०, और २७१ नं० पर उपलब्ध होती हैं। और कुछ गाथाएँ ऐसी भी पाई जाती हैं जिनका पूर्वार्ध तो मिलता है पर उत्तरार्ध नहीं मिलता—वह बदला हुआ है। उन्हें लेख वृद्धिके भयसे छोड़ा जाता है।

इस सब तुलना परसे मालूम होता है कि गोम्मटसार एक संग्रह ग्रंथ है। और इसके संग्रह करनेमें आचार्य नेमिचन्द्रने प्राकृत पंचसंग्रहसे विशेष सहायता ली है।

वीर सेवामन्दिर, सरसावा;
ता० १६-२-१६४०

मानव-धर्म

मानव-धर्म मानवोंसे, नहिं करना घृणा सिखाता है;
मनुज-मनुजको एक बताता भाई-भाईका नाता है।
असली जाति-भेद नहिं इनमें गो-अश्वादि-जाति-जैसा;
शूद्र-ब्राह्मणीके संगमसे उपजे मनुज भेद, कैसा ? ॥१॥
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये भेद कहे व्यवहारिक हैं;
निज-निज कर्माश्रित, अस्थिर, नहिं ऊँच-नीचता-मूलक हैं।
सब हैं अंग समाज-देहके क्या अन्त्यज, क्या आर्य महा;
क्या चांडाल-म्लेच्छ, सब ही का अन्योऽन्याश्रित कार्य कहा ॥२॥
सब हैं धर्मपात्र, सब ही हैं पौरिकताके अधिकारी,
धर्मादिक अधिकार न दे जो शूद्रोंको वह अविचारी।
शूद्र तिरस्कृत पीडित हो निज कार्य छोड़ दें यदि सारा,
तो फिर जगमें कैसी बीते ? पंगु समाज बने सारा ॥३॥
गर्भवास औ' जन्म समयमें कौन नहीं अस्पृश्य हुआ ?
कौन मलोंसे भरा नहीं ? किसने मल-मूत्र न साफ़ किया ?
किसे अछूत जन्मसे तब फिर कहना उचित बताते हो ?
तिरस्कार भंगी-चमारका करते क्यों न लजाते हो ? ॥४॥
जाति-कुमदसे गर्वित हो जो धार्मिकको ठुकराता है;
वह सचमुच आत्मीय-धर्मको ठुकराता न लजाता है।
क्योंकि धर्म धार्मिक पुरुषोंके बिना कहीं नहीं पाता है;
धार्मिकका अपमान इसीसे वृष-अपमान कहाता है ॥५॥
मानव-धर्मापेक्षिक सब हैं धर्मबन्धु अपने प्यारे;
अपनोंसे नहिं घृणा श्रेष्ठ है, हैं उद्धार-योग्य सारे।
अतः सुअवसर-सुविधाएँ सब उन्हें मुनासिब देना है;
इस ही से कल्याण उन्होंका औ' अपना भी होना है ॥६॥
बन करके 'युग-बीर' उठादो रूढ़ि-जनित संस्कारोंका—
पर्दा हृदय-पटलसे अपने ढादो गढ़ हुंकारोंका।
तब होगा दर्शन सुसत्यका, मानवधर्म-पुण्यमयका;
जीवन सफल बनेगा तब ही, अनुगामी हो सत्पथका ॥७॥

"युगवीर"—

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक

[ले०—श्री० प्रोफेसर जगदीशचन्द्र, एम.ए.]

आजसे सात-आठ वर्ष पहलेकी बात है जब मैं बनारस हिन्दु-युनिवर्सिटीमें एम. ए. में पढ़ता था। उस समय श्रीमान् पं० सुखलालजीका उमास्वाति और तत्त्वार्थाधिगम भाष्यके सम्बन्धमें अनेकान्त (प्रथम-वर्ष कि०६ से १२)में एक लेख निकला, जिसे पढ़कर मनमें नाना विचार-धाराओंका उद्भव हुआ और इस विषयमें विशेष अध्ययन करनेकी इच्छा बलवती हो उठी। संयोगवश अगले साल ही मुझे बहैसियत एक रिसर्च-स्कालरके शाँतिनिकेतन जाना पड़ा, और वहाँ मुनि जिनविजयजीके प्रोत्साहनसे मैंने तत्त्वार्थराजवार्त्तिकके सम्पादनका काम हाथमें ले लिया। इस ग्रंथके प्रकाशनकी आयोजना सिंघी सीरिज़में की गई। मैं पहलेसे ही राजवार्त्तिकपर अत्यन्त मुग्ध था। भाँडारकर इन्स्टिट्यूट पूनासे राजवार्त्तिककी कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ मँगाई गईं और मैंने अपना काम शुरू कर दिया। दुर्भाग्यवश राजवार्त्तिकके नूतन और शुद्ध संस्करणके निकालनेका कार्य तो पूर्ण न हो सका, लेकिन इसके बहाने मुझे कुछ लिखनेके लिये मनोरंजक सामग्री अवश्य मिल गई।

वर्त्तमानका मुद्रित राजवार्त्तिक कितना अशुद्ध है, और इतना अशुद्ध होने पर भी कितने मज़ेसे दिगम्बर पाठशालाओंमें उसका अध्ययन-अध्यापन हो रहा है, इसकी कल्पना मुझे तब पहली बार हुई। बहुतसे स्थल तो ऐसे हैं जहाँ वार्त्तिककी टीका बन गई है और टीका वार्त्तिक बन गई है। खैर, इसके लिये तो स्वतंत्र लेख की ही आवश्यकता है। हम इस लेखमें सिर्फ़ कुछ ऐसे मुद्दे पेश करना चाहते हैं, जिनसे जान पड़ता है कि अकलंकके राजवार्त्तिक लिखते समय उनके सामने उमास्वातिका तत्त्वार्थाधिगम भाष्य मौजूद था। और उन्होंने अपनी वार्त्तिकमें उसका उपयोग किया है:—

(१) (क) **'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च'** दिगम्बरीय पाठ है। इसके स्थानमें तत्त्वार्थभाष्य-सम्मत पाठ है **'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ'**। उक्त पाठ राजवार्त्तिककारके सामने मौजूद था। अकलंक देव लिखते हैं:— **"समाधिकावित्यपरेषाँ पाठः—बंधे समाधिकौ पारिणामिकावित्यपरे सूत्रं पठंति।"**

(ख) दिगम्बर-परम्परामें **'द्रव्याणि' 'जीवाश्च'** दोनों सूत्र अलग अलग हैं, लेकिन श्वेताम्बर-परम्परामें दोनों सूत्रोंके स्थानपर एक सूत्र है—**'द्रव्याणि जीवाश्च'**। इसपर राजवार्त्तिककार लिखते हैं—**"एकयोग इति चेन्न जीवानामेव प्रसंगात्—स्यान्मतं एक एव योगः कर्त्तव्यः द्रव्याणि जीवा इत्येवं च शब्दाकरणात् लघ्विरिति, तन्न, किं कारणं जीवानामेव प्रसंगात्।"**

(ग) **'अवग्रहेहावायधारणाः'** दिगम्बर-परम्पराका सूत्र है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यके सूत्रोंमें 'अवाय' के स्थानमें 'अपाय' है। इस पर अकलंकदेव लिखते हैं— **"आहकिमयमपाय उतावाय इत्युभयथा न दोषोऽन्यतरवचनेऽन्यतरस्यार्थगृहीतत्वात्।"** यहां अवाय और अपाय दोनोंही पाठोंको अकलंकने निर्दोष बताया है।

(घ) **'अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य' 'स्वभावमार्दवं च'** ये दो सूत्र दिगम्बर-परम्पराके हैं। इनके स्थनामें श्वेताम्बर-परम्परामें एक सूत्र है—**'अल्पारंभ-**

परिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य'। इस पर शंका करते हुए राजवार्तिककार कहते हैं—"एकयोगीकरणमिति चेन्नोत्तरापेक्षत्वात्—यान्मतं एको योगो कर्तव्यः—अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्येति ? तन्न, किं कारणं उत्तरापेक्षत्वात् ।"

इत्यादि रूपमें राजवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रोंके पाठ-भेदका अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है। इससे यह बात स्पष्ट है कि उनके सामने कोई दूसरा पाठ अवश्य था, जिसे अकलंकने स्वीकार नहीं किया।

(२) यह शंका हो सकती है कि सूत्रपाठमें भेद होनेका जो अकलंकने उल्लेख किया है, उससे यही सिद्ध होता है कि उनके सामने कोई दूसरा सूत्रपाठ था, जिसे दिगम्बर लोग न मानते थे, लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह सूत्रपाठ तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यका ही था। संभव है वह अन्य कोई दूसरा ही पाठ रहा हो।

यह निर्विवाद है कि अकलंकके सामने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि मौजूद थी। तथा उन्होंने सर्वार्थसिद्धिको सामने रखकर ही राजवार्तिकको लिखा है। निम्न लिखित तुलनात्मक उदाहरणोंसे हम यह बताना चाहते हैं कि राजवार्तिककारके समक्ष सर्वार्थसिद्धि तो थी ही, लेकिन उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगमभाष्यका भी उन्होंने काफ़ी उपयोग किया है:—

(क) अपि च तंत्रांतरीया असंख्येयेषु लोकधातुवसंख्येया पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिताः। तत्प्रतिषेधार्थं च सप्तग्रहणमिति।" —तत्त्वार्थ० भाष्य (३-१)	सर्वार्थसिद्धिमें इस स्थान पर असंख्य लोकधातु आदिकी कोई चर्चा नहीं की गई। यहाँ सिर्फ़ इतना ही कहा गया है "सप्तग्रहणं संख्यान्तरनिवृत्यर्थं।" —सर्वार्थ० (३-१)	"संति हि केचित्तंत्रांतरीया अनंतेषु लोकधातुष्वनंताः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिताः।"—राजवार्तिक (३-१)
(ख) "तत्रास्तवैर्यथोक्तैर्नारकसंवर्तनीयैः कर्मभिरसंज्ञिनः प्रथमायामुत्पद्यन्ते। सरीसृपा द्वयोरादितः प्रथमद्वितीययोः एवं पक्षिणस्तिसृषु। सिंहाश्चतसृषु। उरगाः पंचसु। स्त्रियः षट्सु। मत्स्यमनुष्याः सप्तस्विति। न तु देवा नारका वा नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवंति।" —त० भाष्य (३-८	सर्वार्थसिद्धिमें इस सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा गया है।	"अथोत्पादः क्व केषामित्यत्रोच्यते—प्रथमायामसंज्ञिन उत्पद्यंते। प्रथमाद्वितीययोः सरीसृपाः। तिसृषु पक्षिणः। चतसृषूरगाः। पंचसु सिंहाः। षट्सु स्त्रियः। सप्तसु मत्स्यमनुष्याः। न च देवनारका वा नरकेषु उत्पद्यंते।" —राज० (३-६)

(ग) (i) "अशुभनामप्रत्ययादशुभान्यङ्गोपांगनिर्माणसंस्थानस्पर्शरसगंधवर्णस्वराणि। हुण्डानि निर्लूनाण्डजशरीराकृतीनि क्रूरकरुणबीभत्सप्रतिभयदर्शनानि।" (त०भाष्य ३-३, पृ०६६ पंक्ति १०-१२)...

(ii) श्लेष्ममूत्रपुरीषस्रोतोमलरुधिरवसामेदःपूयानुलेपनतलाः श्मशानमिव पूतिमांसकेशास्थिचर्मदन्तनखास्तीर्णभूमयः।"

(त० भाष्य ३ ३, पृष्ठ ६६, पंक्ति ३-४)

(iii) "दीप्ताग्निराशिपरिवृतस्य व्यभ्रे नभसि...यादृगुष्णनं दुःखं भवति ततोऽनन्तगुणं प्रकृष्टं कष्टमुष्णवेदनेषु नरकेषु भवति।"

—(त० भाष्य ३-३, पृष्ठ६७ पंक्ति ३-४)

(घ) "तद्यथा। तप्तायो रसपायननिष्टप्तायः स्तम्भालिंगनकूटशाल्मल्यारोपणावतारणायोघनाभिघातवासी चुरतक्षणक्षारतप्ततैलाभिषेचनायःकुम्भपाकाम्बरीषतर्जनयंत्रपीडनायः शूलशलाकाभेदनक्रकचपाटनांगारदहनवाहनासूचीशाड्वलापकर्षणैः तथा सिंहव्याघ्रद्वीपिश्वभ्रगालवृककोकमार्जारनकुलसर्पवायसगृध्रकाकोलूकश्येनादिखादनैः तथा तप्तवालुकावतरणासिपत्रवनप्रवेशनवैतरणवतारणपरस्परयोधनादिभिरिति।" (त० भाष्य ३-५)

(इससे आगेका पाठ भी भाष्य और राजवार्तिक दोनोंमें क़रीब-क़रीब समान ही है)।

सर्वार्थसिद्धिमें यह नहीं है।

"सुतप्तायोरसपायननिष्टप्तायस्तंभालिंगनकूटशाल्मल्यारोहणावतरणायोघनाभिघातवासी चुरतक्षणक्षारतप्ततैलावसेचनायःकुम्भीपाकांबरीषभर्जनवैतरणीमज्जनयंत्रनिष्पीडनादिभिः.....।"

—सर्वार्थ० (३-५)

"अशुभनामप्रत्ययादशुभांगोपांगस्पर्शरसगंधवर्णस्वराणि हुण्डसंस्थानानि लूनाण्डजशरीराकृतीनि क्रूरकरुणबीभत्सप्रतिभयदर्शनानि, यथेह श्लेष्ममूत्रपुरीषमल रुधिरवसामेदःपूयवमनपूतिमांसकेशास्थिचर्माद्यशुभमौदारिकगतं.....।..... तद्यथा निदाघे मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि..... दीप्ताग्निशिखापरीतस्य..... यादृगुष्णनं दुःखं ततोप्यनंतगुणमुष्णनरकेषु दुःखं भवति।" (राज०, ३-३ पृ० ११५)

राजवार्तिकमें 'भन' शब्द तक क़रीब-क़रीब सर्वार्थसिद्धिका ही अक्षरशः पाठ है, इसलिये यहाँ फिरसे नहीं दिया गया उसके आगेका पाठ भी भाष्यसे क़रीब-क़रीब अक्षरशः मिलता है।

(३) इतना ही नहीं, राजवार्तिककारने तत्त्वार्थ-भाष्यकी पंक्तियाँ उठाकर उनकी वार्त्तिक बनाकर उन पर विवेचन किया है। उदाहरणके लिये 'अद्धासमय-प्रतिषेधार्थं च' यह भाष्यकी पंक्ति है (५-१); इसे "**अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च**" वार्त्तिक बनाकर इस पर अकलंकका विवेचन है (५-१)। इत्यादि। इसी तरह अकलंकदेवने भाष्यमें उल्लिखित काल, परमाणु आदि की मान्यताओं पर भी यथोचित विचार किया है। और उनसे अपने कथनकी संगति बैठानेका प्रयत्न किया है। अवश्य ही कहीं विरोध भी किया है। इससे ऊपरकी शंकाका निरसन हो जाता है, और इससे मालूम होता है कि अकलंकके सामने कोई दूसरा सूत्र-पाठ नहीं था, बल्कि उनके सामने स्वयं तत्त्वार्थ-भाष्य मौजूद था, जिसका उपयोग उन्होंने वार्त्तिक अथवा वार्त्तिकके विवेचनरूपमें यथास्थान किया है।

(४) नीचे कुछ उद्धरण ऐसे दिये जाते हैं, जिनमें अकलंकदेवने भाष्यके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है, इतना ही नहीं उसके प्रति बहुमान भी प्रदर्शन किया है:—

(क) उक्तं हि **अर्हत्प्रवचने** "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा" इति। यहाँ अर्हत् प्रवचनसे तत्त्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय मालूम होता है। श्वेताम्बर विद्वान् सिद्धसेन गणि भी इसका 'अर्हत्प्रवचन' नामसे उल्लेख करते हैं—"इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वाति-वाचकोपज्ञ सूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायाँ सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपकः सप्तमोऽध्यायः।"

(ख) "**कालोपसंख्यानमिति चेन्न वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्**"—स्यादेतत् कालोऽपि कश्चिदजीवपदार्थोऽस्ति अतश्चास्ति यद् भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं अतोस्योपसंख्यानं कर्त्तव्यं इति ? तन्न, किं कारणं वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्।" अर्थात् काल भी अजीव पदार्थ है, जिसका उल्लेख भाष्य में कई बार किया गया है, फिर आपने यहां उसका कथन क्यों नहीं किया ? यह बात नहीं, क्योंकि उसकी चर्चा आगे चलकर होगी।

(ग) मुद्रित राजवार्त्तिकके अन्तमें जो कारिकायें दी हैं, वे कारिकायें भी तत्त्वार्थभाष्यमें पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त पूनाकी हस्तलिखित प्रतिमें जो इन कारिकाओंके अन्तमें कारिका दी है, वह इस तरह है:—

इति तत्त्वार्थसूत्राणां भाष्यं भाषितमुत्तमैः।

यत्र संनिहितस्तर्कः न्यायागमविनिर्णयः॥

अर्थात्—'उत्तम पुरुषोंने तत्त्वार्थसूत्रका भाष्य लिखा है, उसमें तर्क संनिहित है और न्याय आगमका निर्णय है।' यह कारिका बनारसकी मुद्रित राजवार्तिक प्रतिमें नहीं है। इससे जान पड़ता है कि अकलंकदेव तो तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसे अच्छी तरह परिचित थे, और वे तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यके कर्त्ताको एक मानते थे।

र विद्वान् विशेष विचार करेंगे।

सम्पादकीय विचारणा

इस लेखमें लेखक महोदयने जो विषय विद्वानोंके विचारार्थ प्रस्तुत किया है—जिस पर विद्वानोंको विशेष विचार करनेके लिये आमंत्रित किया है—वह निःसन्देह बहुत विचारणीय है। लेखकके विचारानुसार उमा-

स्वातिके तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका जो भाष्य आजकल श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें प्रचलित है वही भट्टाकलंकदेवके सामने उपस्थित था, उन्होंने अपने राजवार्त्तिकमें उसका यथेष्ट उपयोग किया है और वे उक्त भाष्य तथा मूल तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताको एक व्यक्ति मानते थे। यह सब बात जिस आधार पर कही गई है अथवा जिन मुद्दों (उल्लेखों आदि) के बल पर सुझानेकी चेष्टा की गई है उन परसे ठीक—बिना किसी विशेष बाधाके—फलित होती है या कि नहीं, यही मेरी इस विचारणाका मुख्य विषय है।

इसमें सन्देह नहीं कि अकलंकदेवके सामने तत्त्वार्थसूत्रका कोई दूसरा सूत्रपाठ ज़रूर था, जिसके कुछ पाठोंको उन्होंने स्वीकृत नहीं किया। इससे अधिक और कुछ उन अवतरणों परसे उपलब्ध नहीं होता जो लेखके नं० १ में उद्धृत किये गये हैं। अर्थात् यह निर्विवाद एवं निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि अकलंकदेवके सामने यही तत्त्वार्थभाष्य मौजूद था। यदि यही तत्त्वार्थभाष्य मौजूद होता तो उक्त नं० १ के 'घ' भागमें जिन दो सूत्रोंका एक योगीकरण करके रूप दिया है उनमें से दूसरा सूत्र **'स्वभावमार्दवं च'**के स्थान पर **'स्वभावमार्दवार्जवं च'** होता और दोनों सूत्रोंके एक-योगीकरणका वह रूप भी तब **'अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्येति'** दिया जाता; परन्तु ऐसा नहीं है।

वास्तवमें नं० १ के कथन परसे जो शंका उत्पन्न होती है और जिसे नं० २ में व्यक्त किया गया है वह ठीक है, और उसका समाधान बादके किसी भी कथन परसे भले प्रकार नहीं होता। चौथे नम्बरके 'ख' भाग में राजवार्तिकका जो अवतरण दिया गया है उसमें प्रयुक्त हुए **"यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं"** इस वाक्यमें जिस भाष्यका उल्लेख है वह श्वेताम्बर-सम्मत वर्तमानका भाष्य नहीं हो सकता; क्योंकि इस भाष्यमें बहुत बार तो क्या एक बार भी **'षड्द्रव्याणि'** ऐसा कहीं उल्लेख अथवा विधान नहीं मिलता। इसमें तो स्पष्ट रूपसे पांच ही द्रव्य माने गये हैं, जैसा कि पाँचवें अध्यायके **'द्रव्याणि जीवाश्च'** इस द्वितीय सूत्रके भाष्यमें लिखा है—**"एत धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पंच द्रव्याणि च भवन्तीति"** और फिर तृतीय सूत्रमें आए हुए **'अवस्थितानि'** पदकी व्याख्या करते हुए इसी बातको इस तरह पर पुष्ट किया है कि—**"न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति"** अर्थात् ये द्रव्य कभी भी पाँचकी संख्यासे अधिक अथवा कम नहीं होते। सिद्धसेन गणीने भी उक्त तीसरे सूत्रकी अपनी व्याख्यामें इस बातको स्पष्ट किया है और लिखा है कि 'काल किसीके मतसे द्रव्य है परन्तु उमास्वाति वाचकके मतसे नहीं, वे तो द्रव्योंकी पाँच ही संख्या मानते हैं।' यथा—

"कालश्चैकीयमतेन द्रव्यमिति वक्ष्यते, वाचकमुख्यस्य पंचैवेति।"

ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि अकलंकदेवके सामने कोई दूसरा ही भाष्य मौजूद था। जब दूसरा ही भाष्य मौजूद था तब लेखके नं० २ में कुछ अवतरणोंकी तुलना परसे जो नतीजा निकाला गया अथवा सूचन किया गया है वह सम्यक् प्रतिभासित नहीं होता—उस दूसरे भाष्यमें भी उस प्रकारके पदोंका विन्यास अथवा वैसा कथन होसकता है। अवतरणोंमें परस्पर कहीं कहीं प्रतिपाद्य-विषय-सम्बन्धी कुछ मतभेद भी पाया जाता है, जैसा नं० २ के 'क'-'ख' भागोंको देखनेसे स्पष्ट जाना जाता है। ख-भागमें जब तत्त्वार्थभाष्यका सिंहोंके लिये चार नरकों तक और उरगों (सर्पों) के

लिये पाँच नरकों तक उत्पत्तिका विधान है, तब राजवार्तिकका उरगोंके लिये चार नरकों तक और सिंहोंके लिये पाँच नरकों तककी उत्पत्तिका विधान है। यह मतभेद एक दूसरेके अनुकरणको सूचित नहीं करता, न पाठ-भेदकी किसी अशुद्धि पर अवलम्बित है; बल्कि अपने अपने सम्प्रदायके सिद्धान्त-भेदको लिये हुए हैं। राजवार्तिकका नरकोंमें जीवोंके उत्पादादि सम्बन्धी कथन 'तिलोयपण्णत्ती' आदि प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थोंके आधार पर अवलम्बित है *।

यहाँ पर एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह है कि श्री पूज्यपाद आचार्य सर्वार्थसिद्धिमें, प्रथम अध्यायके १६ वें सूत्रकी व्याख्यामें, 'क्षिप्रानिःसृत' के स्थानपर 'क्षिप्रनिःसृत' पाठभेदका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठः। त एवं वर्णयन्ति—श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य वा कुररस्य वेति कश्चित्प्रतिपद्यते।"

जिस पाठभेदका यहाँ **'अपरेषां'** पदके प्रयोगके साथ उल्लेख किया गया है वह 'स्वोपज्ञ' कहे जानेवाले उक्त तत्त्वार्थभाष्यमें नहीं है, और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पूज्यपादके सामने दूसरोंका कोई ऐसा सूत्रपाठ भी मौजूद था जो वर्तमान एवं प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य के सूत्रपाठसे भिन्न था। ऐसा ही कोई दूसरा सूत्रपाठ अकलंकदेवके सामने उपस्थित जान पड़ता है, जिसमें **"अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्य"** ऐसा सूत्रपाठ होगा–**'स्वभावमार्दवं'** की जगह **'स्वभावमार्दवार्जवं च'** नहीं। इसी तरह **"बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ"** सूत्रपाठ भी होगा, जिसके **"समाधिकौ"** पदकी आलोचना करते हुए और उसे 'आर्षविरोधि वचन' होनेसे विद्वानोंके द्वारा अग्राह्य बतलाते हुए **'अपरेषां पाठः'** लिखा है––यह प्रकट किया है कि दूसरे ऐसा सूत्रपाठ मानते हैं। यहाँ **'अपरेषां'** पदका वैसा ही प्रयोग है जैसा कि पूज्यपाद आचार्यने ऊपर उद्धृत किये हुए पाठभेदके साथमें किया है। परन्तु इस **'समाधिकौ'** पाठभेदका सर्वार्थसिद्धिमें कोई उल्लेख नहीं, और इससे ऐसा ध्वनित होता है कि सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपादके सामने प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य अथवा तत्त्वार्थभाष्यका वर्तमानरूप उपस्थित नहीं था, जिसका 'स्वोपज्ञ भाष्य' होनेकी हालतमें उपस्थित होना बहुत कुछ स्वाभाविक था, और न वह सूत्रपाठ ही उपस्थित था जो अकलंकके सामने मौजूद था और जिसके उक्त सूत्रपाठको वे 'आर्षविरोधी' तक लिखते हैं, अन्यथा यह संभव मालूम नहीं होता कि जो आचार्य एकमात्रा तक के साधारण पाठभेदका तो उल्लेख करें वे ऐसे विवादापन्न पाठभेदको बिल्कुल ही छोड़ जावें।

सिद्धसेन गणीकी टीकामें अनेक ऐसे सूत्रपाठोंका उल्लेख मिलता है जो न तो प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्यमें पाये जाते हैं और न वर्तमान दिगम्बरीय अथवा सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमें ही उपलब्ध होते हैं। उदाहरणके लिये **"कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि"** सूत्रको लीजिये, सिद्धसेन लिखते हैं कि इस सूत्रमें प्रयुक्त हुए **'मनुष्यादीनाम्'** पदको दूसरे (अपरे) लोग **'अनार्ष'** बतलाते हैं और साथ ही यह भी लिखते हैं कि कुछ अन्य जन जो **'मनुष्यादीनाम्'** पदको तो स्वीकार करते

* **देखो जैनसिद्धान्तभास्करके ५ वें भागकी तीसरी किरणमें प्रकाशित 'तिलोयपण्णत्ती' का नरक विषयक प्रकरण, (गाथा २८५, २८६ आदि) जिसमें वह विषय बहुत कुछ वर्णित है जो लेखीय नं० २ के अनेक भागोंमें उल्लेखित राजवार्तिकके वाक्योंमें पाया जाता है।**

हैं वे इस सूत्रके अनन्तर "**अतीन्द्रियाः केवलिनः**" यह एक नया ही सूत्रपाठ रखते हैं * । यह सब कथन वर्तमानके दिगम्बर श्वेताम्बर सूत्र पाठोंके साथ सम्बद्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि पहले तत्त्वार्थसूत्रके अनेक सूत्रपाठ प्रचलित थे और वे अनेक आचार्य परम्पराओंसे सम्बन्ध रखते थे। छोटी-बड़ी टीकाएँ भी तत्त्वार्थसूत्रपर कितनी ही लिखी गई थीं। जिनमेंसे बहुतसी लुप्त हो चुकी हैं और वे अनेक सूत्रोंके पाठभेदोंको लिये हुए थीं।

ऐसी हालतमें लेखके नं० ३ में प्रोफेसर साहबने उक्त शंकाका निरसन होना बतलाते हुए, जो यह नतीजा निकाला है कि "अकलंकके सामने कोई दूसरा सूत्रपाठ नहीं था, बल्कि उनके सामने स्वयं तत्त्वार्थभाष्य मौजूद था" वह समुचित प्रतीत नहीं होता। इसी तरह भाष्यकी पंक्तिको उठाकर वार्तिक बनाने आदिकी जो बात कही गई है वह भी कुछ ठीक मालूम नहीं होती। अकलंकने अपने राजवार्तिकमें पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि का प्रायः अनुसरण किया है। सर्वार्थसिद्धिमें पाँचवें अध्यायके प्रथम सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"**कालो वक्ष्यते, तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह कायग्रहणम्।**" इसी बातको व्यक्त करते हुए तथा कालके लिये उसके पर्याय नाम 'अद्धा' शब्दका प्रयोग करते हुए राजवार्तिकमें एक वार्तिक "अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च" दिया है और फिर इसकी व्याख्यामें लिखा है—"**अद्धा शब्दो निपातः कालवाची स वक्ष्यमाणलक्षणः तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह कायग्रहणं क्रियते।**" इससे स्पष्ट है कि उक्त वार्तिक सर्वार्थसिद्धिके शब्दोंपर ही अपना आधार रखता है, और इसलिये यह कहना कि भाष्यकी '**अद्धासमयप्रतिषेधार्थं च**' इस पंक्तिको उक्त वार्तिक बनाया गया है कुछ संगत मालूम नहीं होता। ऊपरके संपूर्ण विवेचनकी रोशनीमें वह और भी असंगत जान पड़ता है।

अब रही नं० ४ में दिये हुए प्रोफेसर साहबके दो मुद्दों ('क-ग' भागों) की बात। '**उक्तं हि अर्हत्प्रवचने "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा" इति**' यह मुद्रित राजवार्तिकका पाठ ज़रूर है; परन्तु इसमें उल्लेखित 'अर्हत्प्रवचन' से तत्त्वार्थ भाष्यका ही अभिप्राय है ऐसा लेखकमहोदयने जो घोषित किया है वह कहाँसे और कैसे फलित होता है, यह कुछ समझमें नहीं आता। इस वाक्यमें गुणोंके लक्षणको लिये हुए जिस सूत्रका उल्लेख है वह तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके पाँचवें अध्यायका ४०वाँ सूत्र है, और इसलिये प्रकट रूपमें 'अर्हत्प्रवचन' का अभिप्राय यहाँ उमास्वातिके मूल तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका ही जान पड़ता है—तत्त्वार्थभाष्यका नहीं। सिद्धसेनगणीका जो वाक्य प्रमाणमें उद्धृत किया गया है उसमें भी '**अर्हत्प्रवचन**' यह विशेषण प्रायः तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके लिये प्रयुक्त हुआ है—मात्र उसके भाष्यके लिये नहीं। इसके सिवाय, राजवार्तिकमें उक्त वाक्यसे पहले यह वाक्य दिया हुआ है—"**अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्।**" और तत्सम्बन्धी वार्तिकभी इस रूपमें दिया है—"**गुणाभावा दयुक्तिरिति चेन्नार्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्।**" इससे उल्लेखित ग्रन्थका नाम '**अर्हत्प्रवचनहृदय**' जान पड़ता है, जो उमास्वाति-कर्तृकसे भिन्न कोई दूसरा ही महत्वका ग्रन्थ होगा। बहुत संभव है कि

* "**अपरेऽतिविसंस्थुलमिदमालोक्य भाष्यं विघ्नाः सन्तः सूत्रे मनुष्यादिग्रहणमनार्षमिति संगिरन्ते। इदमन्तरालमुपजीव्यापरे वातकिनः स्वयमुपरभ्य सूत्रमधीयते—'अतीन्द्रियाः केवलिनः' येषां मनुष्यादीनां ग्रहणमस्ति सूत्रेऽनन्तरे त[ए]वमाहुः—मनुष्यग्रहणात् केवलिनोऽपि पंचेन्द्रियप्रसक्तेः अतस्तदपवादार्थमतीत्येन्द्रियाणि केवलिनो वर्तन्त इत्याख्येयम्।**"

'अर्हत्प्रवचनहृदये' के स्थान पर 'अर्हत्प्रवचने' छप गया हो। इस मुद्रित प्रतिके अशुद्ध होनेको प्रोफेसर साहबने स्वयं अपने लेखके शुरूमें स्वीकार भी किया है। अतः उक्त वाक्यमें 'अर्हत्प्रवचने' पदके प्रयोगमात्रसे यह नतीजा नहीं निकाला जासकता कि अकलंकदेवके सामने वर्तमानमें उपलब्ध होनेवाला श्वेताम्बर-सम्मत तत्त्वार्थभाष्य मौजूद था, उन्होंने उसके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है और उसके प्रति बहुमान भी प्रदर्शित किया है।' अकलंक देवने तो इस भाष्यमें पाये जानेवाले कुछ सूत्रपाठोंको आर्षविरोधी-अनार्ष तथा विद्वानोंके लिये अग्राह्य तक लिखा है। तब इस भाष्यके प्रति, जिसमें वैसे सूत्रपाठ पाये जाते हों, उनके बहुमान-प्रदर्शनकी कथा कहाँ तक ठीक हो सकती है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

राजवार्तिककी मुद्रितप्रतिके अन्तमें जो ३२ कारिकाएँ 'उक्तं च' रूपसे पाई जाती हैं वे उस दूसरे भाष्यपर से ली हुई होसकती हैं, जिसके सम्बन्धमें राजवार्तिकमें ही "**बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं**" ऐसा उल्लेख किया गया है—अर्थात् यह बतलाया है कि उसमें बहुत-बार छह द्रव्योंका विधान किया गया है और जिसकी चर्चा लेखीय नं० ४ के ख-भागका विचार करते हुए ऊपर की जा चुकी है। वे प्रक्षिप्त भी हो सकती हैं अथवा दूसरे किसी प्राचीन प्रबन्धपरसे उद्धृत भी कही जासकती है। ऐसा एक प्राचीन प्रबन्ध * जयधवलामें उद्धृत भी किया गया है, जिसके प्रारम्भकी पाँच कारिकाएँ निम्न प्रकार हैं:—

अनादिकर्मसम्बन्धपरतंत्रो विमूढधीः।
संसारचक्रमारूढो बंभ्रमीत्यात्मसारथिः ॥१॥
सत्वन्तर्बाह्यहेतुभ्यां भव्यात्मा लब्धचेतनः।
सम्यग्दर्शनसद्रत्नमादत्ते मुक्तिकारणम् ॥२॥
मिथ्यात्वकर्दमापायात्प्रसन्नतरमानसः।
ततो जीवादितत्त्वानां याथात्म्यमधिगच्छति ॥३॥
अहं ममास्रवो बन्धः संवरो निर्जराक्षयः।
कर्मणामिति तत्त्वार्थस्त्रदा समवबुध्यते ॥४॥
हेयोपादेयतत्त्वज्ञो मुमुक्षुः शुभभावनः।
सांसारिकेषु भोगेषु विरज्यति मुहुर्मुहुः ॥५॥

इनके अनन्तर ही '**एवंतत्त्वपरिज्ञानाद्विरक्तस्यात्मनो भृशं**' इत्यादि कारिकाएँ प्रारम्भ होती हैं। इन पाँच-कारिकाओंके साथ उत्तरवर्ती उन '**एवं तत्त्वपरिज्ञाद्**' आदि कारिकाओंका कितना गाढसम्बन्ध है और इनके बिना उक्त ३२ कारिकाओंमें की पहली कारिका कैसी अस्पष्टसी, असम्बद्धसी तथा कारिकाबद्ध पूर्वककथनकी अपेक्षाको रखती हुई मालूम होती है उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं, सहृदय विद्वान पाठक स्वयं समझ सकते हैं। अतः उन ३२ कारिकाओंके उद्धरणपरसे यह नहीं कहा जासकता कि अकलंकने उन्हें प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य परसे ही लिया है। इन सब कारिकाओंके सम्बन्धमें किसी समय विशेष विचार प्रस्तुत करनेकी भी मेरी इच्छा है। अस्तु।

अब रही राजवार्तिककी समाप्तिसूचक-कारिकाकी बात। इस कारिकाको मैंने आजसे कोई २० वर्ष पहले आराके जैन सिद्धान्तभवनकी एक प्रतिपरसे मालूम करके अपने नोटके साथ सबसे पहले 'जैनहितैषी' (भाग १५, अंक १-२, पृष्ठ ६) में प्रकट किया था। बादको यह अनेकान्तके प्रथम वर्षकी पाँचवीं किरणमें भी 'पुरानी बातोंकी खोज' शीर्षकके नीचे प्रकट की

* इस प्रबन्धको उद्धृत करनेके बाद जयधवलामें लिखा है—"एवमेत्तिएण पबंधेण णिव्वाण फलपज्जवसाणं" इत्यादि।

जाचुकी है। इसमें जिस 'भाष्यं' पदका प्रयोग हुआ है उसका अभिप्राय राजवार्ति नामक तत्वार्थभाष्यके सिवा किसी दूसरे भाष्यका नहीं है। वह 'तत्त्वार्थ-सूत्राणां' पदके साथ तत्त्वार्थ-विषयकसूत्रों अथवा तत्त्वार्थशास्त्रपर बने हुए वार्तिकोंके भाष्यकी सूचनाको लिये हुए है। राजवार्तिक 'तत्त्वार्थभाष्य' के नामसे प्रसिद्ध भी है। धवलादि ग्रन्थोंमें 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये' जैसे शब्दोंके साथ भाष्यके वाक्योंको उद्धृत किया गया है। पं० सुखलालजी तो इसे ही दिगम्बर सम्प्रदायका 'गंधहस्ति महाभाष्य' बतलाते हैं। इसीमें वह तर्क, न्याय और आगमका विनिर्णय अथवा तर्क, न्याय और आगमके द्वारा (वस्तुत्वका विनिर्णय) संनिहित है जिसका उक्त कारिकामें उल्लेख है—'स्वोपज्ञ' कहे जानेवाले तत्त्वार्थ भाष्यमें यह सब बात नहीं है। और कारिकामें प्रयुक्त हुए 'उत्तमैः' पदका अभिप्राय 'उत्तमपुरुषों' से इतना संगत मालूम नहीं होता जितना कि 'उत्तम पदों' के साथ जान पड़ता है। प्रसन्नादि-गुणविशिष्ट उत्तम पदों-के द्वारा इस भाष्यका निर्माण हुआ है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है। यदि उत्तम पुरुषोंका ही अभिप्राय लिया जाय तो उसके वाच्य स्वयं अकलंक देव हैं। ऐसी हालतमें इस कारिका परसे जो नतीजा निकाला गया है वह नहीं निकाला जा सकता—अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि 'अकलंकदेव वर्तमानमें उपलब्ध होनेवाले इस श्वेताम्बरीय तत्वार्थाधिगम भाष्यसे अच्छी तरह परिचित थे और वे तत्त्वार्थसूत्र और उसके इस भाष्यके कर्ताको एक मानते थे तथा उसके प्रति बहुमान प्रदर्शित करते थे।'

आशा है इस सब विवेचन परसे प्रोफ़ेसर साहब तथा दूसरे भी कितने ही विद्वानोंका समाधान होगा और वे इस विषयपर और भी अधिक प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे। इत्यलम्।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० १५-२-१९४०

साहित्य-परिचय और समालोचन

(१) उर्दू-हिन्दी कोश—संयोजक एवं सम्पादक पं० रामचन्द्र वर्म्मा (सहायक सम्पादक 'हिन्दी-शब्द-सागर' और सम्पादक 'संक्षिप्त शब्द-सागर')। प्रकाशक, पं० नाथूराम प्रेमी मालिक हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय हीराबाग, बम्बई नं० ४। बड़ा साइज़, पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर ४४०। मूल्य, सजिल्दका २॥) रु०।

यह कोश प्रकाशक महोदय पं० नाथूरामजीकी प्रेरणापर तय्यार हुआ है। बड़ा ही सुन्दर तथा उपयोगी है। इसमें उर्दूके शब्दोंको, जिनमें अक्सर अरबी फ़ार्सी-तुर्की आदि भाषाओंके शब्द भी शामिल होते हैं, देव-नागरी अक्षरोंमें दिया है। साथमें यथावश्यकता भाषाके निर्देशपूर्वक शब्दोंके लिंग तथा वचनादि-विषयक व्या-करणकी कुछ विशेषताओंका भी उल्लेख किया है और

फिर हिन्दीमें अच्छा स्पष्ट अर्थ दिया है। इससे यह कोश हिन्दी पढ़ने लिखनेवालोंके लिये एक बड़ी ही कामकी चीज़ होगया है। इसके लिये लेखक और प्रेरक दोनों ही धन्यवादके पात्र हैं।

आज-कल हिन्दी भाषामें बहुत करके उर्दू के शब्दों-का और उर्दूकी कविताओंका प्रयोग होने लगा है—हिन्दुस्तानी भाषा दोनोंके मिश्रणसे बन रही है और बहुत पसन्द की जा रही है। जो लोग उर्दू नहीं जानते उन्हें आधुनिक पत्रों तथा पुस्तकोंके ठीक आशयको समझनेमें कभी-कभी बड़ी दिक्कत होती है और यदि सुन-सुनाकर वे कभी कोई उर्दूका शब्द बोलते या लिखते हैं और वह शुद्ध बोला या लिखा नहीं जातातो पढ़ने-सुनने वालोंको बुरा मालूम होता है, और कभी-कभी उसके कारण शरमिन्दगी भी उठानी पड़ती है। ऐसी हालतमें ऐसे कोशका पासमें होना बड़ा ज़रूरी है इसमें १०१६० शब्दोंका अच्छा उपयोगी संग्रह है, लेखक अथवा संयोजककी प्रस्तावना भी बड़ी महत्वपूर्ण है, और वह कोशके अनेक विषयों पर अच्छा प्रकाश डालती है। काग़ज़ तथा बम्बईकी छपाई सफ़ाई और गेट-अप सब उत्तम है। जिल्द खूब पुष्ट तथा मनोमोहक है। मूल्य भी अधिक नहीं है। पुस्तक सब प्रकारसे संग्रह किये जाने और पासमें रखनेके योग्य है।

(२) ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह—सम्पादक अगरचन्द नाहटा और भँवरलाल नाहटा। प्रकाशक—शंकरदान शुभैराज नाहटा, नं० ५-६ आरमेनियन स्ट्रीट कलकत्ता। साइज, २०×३०, १६ पेजी, पृष्ठ संख्या सब मिलाकर ६६२ मूल्य सजिल्द १।) रु०।

इस सचित्र ग्रन्थमें विक्रमकी १२ वीं शताब्दीसे लेकर २० वीं शताब्दी तकके काव्यों, गीतों, रासों आदिका संग्रह किया गया है। काव्य प्रायः हिन्दी राजस्थानी, गुजराती और अपभ्रंश भाषामें है। कुछ नमूने संस्कृत और प्राकृतके भी दिये हैं। काव्यकार प्रायः खरतर गच्छीय श्वे० साधु हैं-कुछ तपागच्छीय भी हैं। काव्योंमें कितना ही ऐतिहासिक वर्णन है और इसलिये ग्रंथका 'ऐतिहासिक जैन-काव्य-संग्रह' नाम सार्थक जान पड़ता है।

भाषा-विज्ञानका अध्ययन करने वालोंके लिये यह ग्रंथ बड़ा ही उपयोगी है। इससे ८०० वर्ष तकके काव्योंकी रचना-शैली शताब्दीवार सामने आजाती है और उसपर से हिन्दी-भाषाके क्रमविकासका कितना ही पता चल जाता है और अनेक प्रान्तीय भाषाओंका थोड़ा-बहुत बोध भी हो जाता है। ग्रंथमें काव्योंका सार देते हुए काव्यकारों आदिका अच्छा परिचय दिया है, कठिन शब्दोंका कोष भी लगाया है, काव्योंमें पाए हुए विशेष नामोंकी सूची भी अलग दी है। और भी कुछ सूचियाँ दी हैं, साथमें प्रो० हीरालाल जी जैन, एम. ए. अमरावतीकी ८ पेजकी प्रस्तावना भी है, इन सबसे इस ग्रंथकी उपयोगिता खूब बढ़ गई है। सम्पादकोंने इस ग्रन्थकी सामग्री और संकलनमें जो परिश्रम किया है, वह निःसन्देह प्रशंसनीय है और उसके लिये वे ऐतिहासिक जगत एवं साहित्यिक संसार दोनों हीके द्वारा धन्यवादके पात्र हैं। ग्रंथकी छपाई-सफाई और जिल्द बंधाई उत्तम है। १८ चित्र भी साथमें लगे हैं, यह सब देखते हुए मूल्य बहुत कम जान पड़ता है। और वह सम्पादक महोदयों तथा प्रकाशक महानुभावोंके विशिष्ट साहित्य-प्रेम एवं सेवा-भावका द्योतक है। आपका यह सत्प्रयत्न दिगम्बर समाजके उन धनिकों तथा विद्वानों के लिये अनुकरणीय है, जो अपने इधर-उधर बिखरे

हुए साहित्यकी ओर बिल्कुल ही पीठ दिये हुए हैं और उसके प्रति अपना कुछ भी कर्तव्य नहीं समझते हैं।

(३) युग प्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि—लेखक अगरचन्द नाहटा और भँवरलाल नाहटा। प्रकाशक—शंकरदान शुभैराज नाहटा, नं० ५ ६ आरमेनियन स्ट्रीट कलकत्ता। साइज २०×३० १६ पेजी। पृष्ठ संख्या सब मिलाकर ४५२। मूल्य सजिल्द १) रु०।

इस ग्रन्थका विषय इसके नामसे ही प्रकट है। ग्रन्थमें १७ वीं शताब्दीके विद्वान आचार्य युग प्रधान श्री जिनचन्द्र जी का परिचय बड़ी खोजके साथ दिया गया है। आप अपने समयके बड़े ही प्रभावशाली आचार्य थे, सम्राट अकबर आपके प्रभावसे बहुत प्रभावित हुआ था और उसने अपने राज्यमें कितने ही दिन हिंसा न किये जानेके लिये घोषित किये थे और फिर आपका अनुकरण करके दूसरे राजाओंने भी कुछ-कुछ दिनोंके लिये अपने राज्योंमें अमारिकी (किसी जीवको न मारनेकी) घोषणा की थी और इससे जैन-धर्मकी बड़ी प्रभावना हुई थी। और भी कितनी ही अनुकूलताएँ जैनियोंको अकबरके राज्यमें आपके प्रतापसे प्राप्त हुई थीं। यह सब वर्णन इस ग्रंथमें शाही फर्मानोंकी नकल के साथ दिया हुआ है। एक खास घटनाका भी इसमें उल्लेख है और वह यह है, कि—अकबरके पुत्र सलीम के घर लड़की मूल नक्षत्रके प्रथम पादमें पैदा हुई थी, ज्योतिषियोंने उसका फल शहजादा सलीमके लिये अनिष्टकारक बतलाया था और लड़कीका मुँह न देखने तथा उसका जल-प्रवाह कर देने आदिके द्वारा परित्याग की व्यवस्था दी थी। तब इस दोषकी उपशान्तिके लिये अकबरने अपने मन्त्रीश्वर कर्मचन्द बच्छावतसे परामर्श करके जैन विधिसे बृहत् शान्तिविधान कराया था, जिसमें सोने, चान्दीके कलशोंसे सुपार्श्वनाथ भगवानका अष्टोत्तरी स्नान (अभिषेक) हुआ था और इस महोत्सवमें एक लाख रुपयेके क़रीब खर्च हुआ था। पूजन समाप्तिके अनन्तर मंगल दीपक और आरतीके समय स्वयं सम्राट् अकबर अपने पुत्र शाहज़ादे सलीम तथा अनेक मुसाहिबोंके साथ शान्ति विधानके स्थानपर उपस्थित हुआ था और उसने १० हज़ार रुपये जिनेन्द्र भगवानके सन्मुख भेंटकर प्रभुभक्ति तथा जिनशासनका गौरव बढ़ाया था। साथ ही, शान्तिके निमित्त अभिषेक जलको अपने नेत्रोंपर लगाया और अन्तःपुरमें भी भक्तिपूर्वक लगानेके लिये भेजा था। कहते हैं इस अष्टोत्तरी अभिषेकके अनुष्ठानसे सर्वदोष उपशान्त हुए, जिससे सम्राट्को परम हर्ष हुआ और वह जिनधर्मका और अधिक भक्त बना। मालूम नहीं यह घटना कहाँ तक सत्य है; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अकबरके समयमें जैनधर्मका प्रभाव बहुत कुछ व्यापक हुआ था और उसके अनुयायियोंकी संख्या तब करोड़ोंकी कही जाती है। यह सब सच्चरित्र एवं विद्वान् साधु सन्तोंके प्रभावका ही फल है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा महोदयने, पुस्तकपर दी हुई अपनी सम्मतिमें, स्पष्ट स्वीकार किया है कि इन सूरिजीका उपदेश उस समयके तत्कालीन मुग़ल बादशाह अकबरने सुनकर अपने साम्राज्यमेंसे हिंसावृत्ति बहुत कुछ रोक दी थी। इनकी तपस्या और त्यागवृत्तिने बादशाहका चित्त जैनधर्मकी ओर खींच लिया था, जिससे जैनधर्मका विकास होकर उस तरफ उत्तरोत्तर आस्था बढ़ती जाती थी। फलतः बादशाह अपने यहाँ प्रायः जैनसाधुओंको बुलाकर उनसे उपदेश ग्रहण किया करता था। वह जैनसमाजके लिये

स्वर्णयुग था और कर्मचन्द बच्छावत जैसे श्रावक उसमें मौजूद थे।"

यह ग्रन्थ बहुतसे ग्रन्थोंकी सहायतासे तैय्यार हुआ है, जिनकी एक विस्तृत सूची साथमें दी गई है। साथ ही श्री मोहनलाल देवीचन्द देशाई एडवोकेट बम्बईकी महत्वपूर्ण प्रस्तावनासे भी अलंकृत है, जिसकी पृष्ठ संख्या ७१ है और अन्तमें ४८ पृष्ठोंपर ग्रन्थमें आए हुए विशेष नामोंकी सूचीको भी लिये हुए है, जिन सबसे ग्रन्थकी उपयोगिता बढ़ गई है। कागज़, छपाई, सफ़ाई तथा जिल्द उत्तम है। मूल्य एक रुपया बहुत कम है और वह लेखक महोदयों तथा प्रकाशक जीकी गुरुभक्ति एवं साहित्य प्रीतिको स्पष्ट घोषित करता है, और साथ ही दूसरोंके लिये सेवाभावसे कमी मूल्यका आदर्श भी उपस्थित करता है।

(४) विधवा-कर्तव्य— लेखक अगरचंद नाहटा। प्रकाशक, शङ्करदान भेरुंदान नाहटा, नाहटोंकी गवाड़, बीकानेर। साइज़ २०×३०, १६ पेजी। पृष्ठ संख्या, ६२। मूल्य, दो आना।

इसमें सबसे पहले 'विधवा-कुलक' नामका एक दशगाथात्मक प्राकृत प्रकरण भावार्थ तथा विवेचन-सहित दिया गया है। यह प्रकरण पाटनके भण्डारसे ताड़पत्रपर लिखा हुआ उपलब्ध हुआ है और इसमें विधवाओंको शील रक्षाके लिये क्या क्या काम नहीं करने चाहियें, इस विषयका अच्छा उपदेश दिया है। विवेचन कहीं कहीं पर मूलकी स्पिरिटसे बाहर भी निकला हुआ जान पड़ता है; जैसे केशोंका संस्कार अथवा पुष्पादिसे शृङ्गार न करनेकी बात कही गई थी, तब विवेचनमें "विधवाओंको केश रखने भी न चाहियें" यहाँ तक कहा गया है और प्रमाणमें 'अश्वारूढं पतिं दृष्ट्वा' नामका एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें केश सहित विधवा स्त्रीको भी देखनेपर सवस्त्र स्नान करनेकी बात कही गई है। यह श्लोक कहाँका और किसका है, यह कुछ बतलाया नहीं—ऐसी ही हालत विवेचनमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी है। इसमें सकेशा विधवाको देखनेपर जिस प्रायश्चित्तकी बात कही गई है वह जैन नीतिके साथ कुछ संगत मालूम नहीं होती। अस्तु, उक्त कुलकके *विवेचनादिके अनन्तर* पुस्तकमें *'विधवा-कर्तव्य'* नामका एक स्वतंत्र निबन्ध दिया हुआ है, जिसमें लेखकने अपने विचारानुसार विधवाओं, घरवालों तथा समाजको भी बहुतसी अच्छी शिक्षाएँ दी हैं। पुस्तकमें कहीं कहीं पर छपाईकी कुछ अशुद्धियाँ खटकती हुईसी हैं।

(५) दादा श्री जिनकुशलसूरि—लेखक, अगरचंद नाहटा और भँवरलाल नाहटा। प्रकाशक, शङ्करदान शुभैराज नाहटा नं० ५-६ आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता। साइज़, २०×३०, १६ पेजी। पृष्ठ संख्या सब मिलाकर १३०। मूल्य, चार आना।

इसमें विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य श्रीजिनकुशलसूरिका जीवन चरित्र ऐतिहासिक दृष्टिसे खोजके साथ दिया गया है और उसमें सूरिजीकी अनेक जीवन-घटनाओं तथा ग्रन्थ रचनाओंपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और कितना ही इतिहास सामने आजाता है

इस पुस्तककी प्रस्तावना प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्री जिनविजयजीकी लिखी हुई है, जिसमें आपने इस जीवन चरित्रको चमत्कारिक घटनाओंसे शून्य शुद्ध इतिहाससिद्ध जीवनवर्णन (Pure Historical bio

graphy) बतलाया है और सूरिजीकी सच्चरित्रता और विद्वत्ताकी प्रशंसा करते हुए उनकी 'चैत्यवन्दना-कुलक-वृत्ति' नामकी उपलब्ध रचनाका बड़ा ही गुणगान किया है। साथ ही, इस वृत्तिके कुछ वाक्योंका उल्लेख एवं उद्धरण करते हुए यह भी बतलाया है कि—

"जैन समाजमें परस्पर एकता और समानताका व्यवहार रहना चाहिये, इस बातका भी इन्होंने (सूरिजीने) स्पष्ट विधान किया है—जो वर्तमानमें जैनसमाजको सबसे अधिक मनन और अनुसरण करने योग्य है। इस विषयमें साधर्मिक वात्सल्यवाले प्रकरणमें इन्होंने कहा है कि— जैनधर्मका अनुवर्तन करनेवाले सब मनुष्योंको परस्पर सम्पूर्ण बन्धुभाव और समान व्यवहारसे वर्तना चाहिये—चाहे फिर कोई किसी भी देश और किसी भी जातिमें क्यों न उत्पन्न हों। जो कोई मनुष्य सिर्फ नमस्कार मंत्रमात्रका स्मरण करता है वह भी जैन है और अन्य जैनोंका परम बन्धु है और इसलिये उसके साथ किसी भी प्रकारका भेदभाव न रखना चहिये और किसी प्रकारका वैर-विरोध न करना चाहिये।' धार्मिक एकताकी दृष्टिसे ये विचार कितने उदार और अनुकरणीय हैं। जिनकुशलसूरिकी चरण-पूजा करनेवाले भक्तजन यदि उनके इस कथनका बुद्धि पूर्वक अनुपालन करें तो, गुरुपूजाका सबसे उत्तम फल प्राप्त कर सकते है और कमसे कम अपने गच्छका तो गौरव बढ़ा सकते हैं।"

पुस्तकमें चार उपयोगी परिशिष्टोंके साथ विशेष नामोंकी सूची लगी हुई है, जिनसे पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गई है। इतिहास प्रेमी विद्वानोंके लिये पुस्तक पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य है। अपने पूज्य-पुरुषोंके इतिहासको इस तरह खोज खोजकर प्रकट करनेके सत्प्रयत्नके लिये बन्धुद्वय लेखक महोदय निःसन्देह धन्यवादके पात्र हैं।

(६) सती मृगावती—लेखक; भँवरलाल नाहटा। प्रकाशक, शंकरदान भैरुंदान नाहटा। नाहटोंकी गवाड़ बीकानेर पृष्ठ संख्या, ४०। मूल्य, दो आना।

यह एक पौराणिक आधारपर अवलम्बित श्वेताम्बर कहानी है और भगवान महावीरके समयादिके साथ सम्बन्ध रखती है।

(७) श्रीदेव-रचना—लेखक, कवि ला० हरजसराय जैन ओसवाल। संशोधक, मुनि छोटेलाल (पञ्चनदीय)। प्रकाशक, प्यारालाल जैन (मन्हाणी) साइकसगंज, स्यालकोट शहर। पृष्ठ संख्या, १६८। मूल्य, सजिल्दका १।) अजिल्दका १) रु०।

इसमें मुख्यतासे भवनवासी आदि चार प्रकारके देवोंका और गौणतासे तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि ६३ शलाका पुरुषोंका वर्णन अनेक प्रकारके छंन्दोंमें दिया है, जिनमें चित्र छन्द भी हैं। पद्योंकी कुल संख्या ८४३ है। नाना छन्दोंकी दृष्टिसे पुस्तक सामान्यतया अच्छी है, विषय-वर्णन भी कुछ बुरा नहीं। भाषाका नमूना जाननेके लिये अन्तका छप्पयछंद निम्न प्रकार है, जिसमें पुस्तक रचनेका समयादिक भी दिया हुआ है:—

अठारह सय सत्तरेव पंचम थिति माँहे।
बुध जन उत्तर मीन चन्द सुवसत उछाहे॥
कुशपुर वासी ओसवाल हरजस रचलीनी।
सुर रचना जिनधर्म पुष्ट समकित रस भीनी॥
जिह सुन पठ चित अर्थ धर बढे ज्ञान सत बुद्ध।
नमो देव अरिहन्तजी कर जोसमकित शुद्ध॥ ८४३॥

सामायिक-विचार

[ले०—स्व० श्रीमद्राजचन्द्र]

आत्म-शक्तिका प्रकाश करनेवाला, सम्यग्दर्शनका उदय करनेवाला, शुद्ध, समाधि भावमें प्रवेश कराने वाला, निर्जराका अमूल्य लाभ देनेवाला, राग द्वेषसे मध्यस्थ बुद्धि करने वाला सामयिक नामका शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्दकी व्युत्पत्ति सम+आय+इक इन शब्दोंसे होती है। 'सम' का अर्थ राग-द्वेष रहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' का अर्थ उस सम्भावनासे उत्पन्न हुआ ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप मोक्ष मार्गका लाभ, और 'इक' का अर्थ भाव होता है। अर्थात् जिसके द्वारा मोक्षके मार्गका लाभदायक भाव उत्पन्न हो, वह सामायिक है। आर्त और रौद्र इन दो प्रकार के ध्यानका त्याग करके, मन, वचन और कायके पाप-भावोंको रोक कर विवेकी मनुष्य सामायिक करते हैं।

मनके पुद्गल तरंगी हैं। सामायिकमें जब विशुद्ध परिणामसे रहना बताया गया है, उस समय भी यह मन आकाश पातालके घाट घड़ा करता है। इसी तरह भूल, विस्मृति, उन्माद इत्यादिसे वचन और कायमें भी दूषण आनेसे सामायिकमें दोष लगता है। मन, वचन और कायके मिलकर बत्तीस दोष उत्पन्न होते हैं। दस मनके, दस वचनके, और बारह कायके इस प्रकार बत्तीस दोषोंको जानना आवश्यक है, इनके जानने से मन सावधान रहता है।

मनके दोषकहता हूँ।

१. अविवेक दोष--सामायिक-स्वरूप नहीं जाननेसे मनमें ऐसा विचार करना कि इससे क्या फल होना था ? इससे तो किसने पार पाया होगा, ऐसे विकल्पोंका अविवेक दोष है।

२. यशोवांछादोष—हम स्वयं सामायिक करते हैं, ऐसा दूसरे मनुष्य जानें तो प्रशंसा करें, ऐसी इच्छासे सामायिक करना वह यशोवांछादोष है।

३. धनवांछादोष—धनकी इच्छासे सामायिक करना धनवांछादोष है।

४. गर्वदोष—मुझे लोग धर्मात्मा कहते हैं और मैं सामायिक भी वैसे ही करता हूँ ऐसा अध्यवसाय होना गर्व दोष है।

५. भयदोष--मैं श्रावक कुलमें जन्मा हूँ। मुझे लोग बड़ा मानकर मान देते हैं यदि मैं सामायिक न करूँ तो लोग कहेंगे कि इतनी क्रिया भी नहीं करता, ऐसी निन्दाके भयसे सामायिक करना भय दोष है।

६. निदानदोष—सामायिक करके उसके फल से धन, स्त्री पुत्र आदि मिलनेकी इच्छा करना निदान दोष है।

७. संशयदोष--सामायिकका फल होगा अथवा नहीं होगा, ऐसा विकल्प करना संशयदोष है।

८. कषायदोष--क्रोध आदिसे सामायिक करने बैठ जाना, अथवा पीछेसे क्रोध, मान, माया और लोभमें वृद्धि लगाना वह कषाय दोष है।

९. अविनयदोष—विनय रहित होकर सामायिक करना अविनय दोष है।

१०. अबहुमानदोष—भक्तिभाव और उमंग-पूर्वक सामायिक न करना वह अबहुमान दोष है।

Regd No. L.4328

सुभाषित

ज्यों काहू विषधर डसै, रुचि सों नीम चबाय ।
त्यों तुम ममतामें मढ़े, मगन विषय सुख पाय ॥

ज्यों सछिद्र नौका चढ़े, बूढ़ई अंध अदेख ।
त्यों तुम भव जलमें परे, विन विवेक धर भेख ॥

तैसे ज्वरके जोर सो, भोजनकी रुचि जाय ।
तैसे मिथ्यातमके उदै, धर्म वचन न सुहाई ॥

जैसे पवन झकोर तैं, जल में उठे तरंग ।
त्यों मनसा चंचल भई, परिगहके पर संग ॥

ज्यों सुवास फल फूलमें, दही दूधमें घीव,
पावक काठ पषाणमें, त्यों शरीरमें जीव ।

चेतन पुद्गल यों मिले, ज्यों तिलमें खलि तेल,
प्रकट एकसे दीखिए, यह अनादिको खेल ॥

वह वाके रसमें रमें, वह वासों लपटाय,
चुम्बक करषै लोहको, लोह लगै तिह धाय ।

कर्मचक्रकी नींद सो, मृषा स्वप्नकी दौर,
ज्ञानचक्रकी दृष्टिमें, सजग भांति सब ठौर ॥

—स्व० कविवर बनारसीदास

वीर प्रेस ऑफ इण्डिया, कनॉट, सर्कस न्यू देहली ।